प्रत्यभिज्ञाहृदयम् और वेदान्तसार

के सन्दर्भ में

काश्मीर अद्वैतशैव दर्शन और अद्वैत वेदान्त दर्शन

एक पर्यावेक्षण



डॉ॰ जगीर सिंह

संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू ।

मूल्य– सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् और वेदान्तसार

के सन्दर्भ में
काश्मीर अद्वैतशैव दर्शन और अद्वैत वेदान्त दर्शन
एक पर्यावेक्षण



डॉ॰ जगीर सिंह
संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू ।

मूल्य– सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय

विषयानुक्रमणिका

★ ★ ★

[illegible]

संकेत-सूची

अ० प्र० सि०	–	अजडप्रमातृसिद्धि
अ० प्र० प०	–	अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका
अनु० प्र०	–	अनुभूतिप्रकाश
अमन० यो०	–	अमनस्क योग
अ० को०	–	अमरकोष
अष्ट० व० सं०	–	अष्टावक्र संहिता
ई० प्र०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ई० प्र० वि०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ई० प्र० वृ०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वृत्ति
ई० प्र० वि० वि०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी
ईश० उप०	–	ईशावास्योपनिषद्
उ० र० च०	–	उत्तररामचरितम्
उप० सा०	–	उपदेशसाहस्त्री
ऋ० वे०	–	ऋग्वेद
एत० उप०	–	ऐतरेयोपनिषद्
कठ० उप०	–	कठोपनिषद्
कठ० उप० शां० भा०	–	कठोपनिषद् शांकरभाष्य
केन० उप०	–	केनोपनिषद्
कैवल्य० उप०	–	कैवल्योपनिषद्
काशी० उप०	–	कौशीतकि उपनिषद्
कु० स०	–	कुमारसम्भवम्

गा० तं०	–	गायत्रीतन्त्रम्
छां० उप०	–	छान्दोग्योपनिषद्
त० सं०	–	तत्त्वसन्दोह
तै० उप०	–	तैत्तिरीयोपनिषद्
तं० सा०	–	तन्त्रसार
तं० आ०	–	तन्त्रालोक
दु० स०	–	दुर्गासप्तशती
ने० तं०	–	नेत्र तन्त्र
नै० सि०	–	नैष्कर्म्यसिद्धि
प० सा० भा०	–	परमार्थसार भाष्य
प० सा० का०	–	परमार्थसार कारिका
प० त्रिं० का०	–	परात्रिंशिका कारिका
परा प्रा०	–	पराप्रावेशिका
पं० द०	–	पञ्चदशी
प्र० हृ०	–	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
वे० सा०	–	वेदान्तसार
वि० चू०	–	विवेकचूड़ामणि
वि० भै० वि०	–	विज्ञानभैरव विवृति
बो० पं० द०	–	बोधपञ्चदशिका
ब्र० सू० शां० भा०	–	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
बृहद्० उप०	–	बृहदारण्यकोपनिषद्
भ० गी०	–	भगवद्गीता
मा० वि० वा०	–	मालिनीविजयवार्तिकम्
मा० वि० तं०	–	मालिनीविजयतंत्रम्

मा० वि० उ० तं०	–	मालिनीविजयोत्तरतंत्रम्
मु० या मुण्ड० उप०	–	मुण्डकोपनिषद्
माण्ड० उप०	–	माण्डूक्योपनिषद्
यो० भा०	–	योगभाष्यम्
यो० सू०	–	योगसूत्रम्
यो० वा० पं० द०	–	योगवासिष्ठ पञ्चदशी
रघु०	–	रघुवंशम्
स्वच्छ तं०	–	स्वच्छन्दतंत्रम्
स्पन्द० नि०	–	स्पन्दनिर्णय
स्पन्द का०	–	स्पन्दकारिका
सि० म० र०	–	सिद्धमहारहस्यम्
सां० सू० या द०	–	सांख्य सूत्र या दर्शन
सौ० ल०	–	सौन्दर्यलहरी
श्वेत० उप०	–	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शां० भा०	–	शांकरभाष्यम्
शां० भा० माण्डू० उप०	–	शांकरभाष्य माण्डूक्योपनिषद्
शां० भा० तै० उप०	–	शांकरभाष्य तैत्तिरीयोपनिषद्
शि० सू०	–	शिवसूत्रम्
शि० दृ०	–	शिवदृष्टि
शि० दृ० वृ०	–	शिवदृष्टिवृत्ति
शि० स्तो०	–	शिवस्तोत्रावली
षट् त्रिं० त० स० वि०	–	षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह विवेक

★ ★ ★

प्राक्कथन

विश्व-वैचित्र्य एवं तत्सम्बन्धी अपनी सामर्थ्यासामर्थ्य आदि को अनुभव कर उत्कट जिज्ञासा हुई कि इस महानाटक का अभिनय किसी सर्वशक्तिशाली सत्ता से निर्दिष्ट हो रहा है या कोई अन्य रहस्य है ? मानव-जीवन का चरम-लक्ष्य क्या है ? हम बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घूमने से कैसे छूट सकते हैं ? परमशान्ति कैसे उपलब्ध हो सकती है, क्योंकि सांसारिक जिस किसी वस्तु में भी प्रेम आदि देखा जाता है या सौन्दर्य दिखाई देता है, वह केवल कुछ समय तक ही आनन्द की झलक दिखा कर पुनः दुःख का ही हेतु बन जाता है ? ऐसी अनेकों मानसिक ऊहा-पूहों से प्रेरित होकर, सत्संगति के प्रभाव से एवं गुरुजनों की परमकृपा से मुझे आध्यात्मिक रंग में रंगे जाने का सुअवसर मिला। जिस प्रकार नवबर्त्तन में जैसा संस्कार सर्वप्रथम डाला जाता है, वह वैसा ही हो जाता है। इसी तरह बाल्यावस्था से ही भगवद् भक्ति के कारण हर तरह की परिस्थितियों से जूझते हुए भी मुझे उस सत्ता के प्रति और अधिक विश्वास प्राप्त हुआ है तथा समस्त दृश्यों में उसी का प्रतिबिम्ब ही दिखाई दिया है। वास्तव में यह समस्त जगत् परमसत्ता की आनन्द शक्ति का ही स्फार[1] है। और इसे हम जाने-अनजाने समस्त चराचर जीवों के व्यापारों में देख रहे हैं- चींटी से हाथी तक या वनस्पति से पुरुष एवं देवता तक उसकी शक्ति स्पष्ट परिलक्षित हो रही है।[2] जैसे विद्युत-धारा के अदृश्य होने से मशीन आदि कार्य करना बन्द कर देती है, उसी प्रकार इस शक्ति के विकास एवं

---

1. तंत्र० आ० भा० 2, पृ० 201, -बृहद्० उप० 4-3-32
   तथा "स्पन्दशक्तिश्च वातेषु. . . . . . ब्रह्मणि स्थितम्।।"
   -यो० वा०, पं० द० 13-16, 17। 8
2. एष ब्रह्मैष - सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्। -ऐत० उप० 3-3, श्वेत० उप० 2-17, 3-1

संकोच से होता है। परन्तु मानव- मन पर, माया या अज्ञान शक्ति के कारण, यह रहस्य सहज ही अंकित नहीं होता। बेचारे मानव की तो बात ही क्या ? देवताओं तक भी ऐसा ही भ्रम देखने को मिलता है। केनोपनिषद् में ऐसा प्रसंग निरूपित है कि देवताओं ने असुरों पर विजय को अपनी सामर्थ्य का कौतुक मानकर ब्रह्म के प्रति अनास्था प्रकट की, जिस पर उनके यक्ष रूप में अवतरित होने पर अग्नि अपनी पूर्ण सामर्थ्य लगाने पर भी एक तिनका न जला सका और पवन उसे उड़ा न सका। तब भगवती उमा ने प्रकट होकर कहा कि यह सब ब्रह्म की ही सामर्थ्य है, जिससे आप लोग विजयी होते हों अर्थात् अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म को करते हो।[3] यह परमसत्ता अपनी आत्मा ही है अर्थात् इससे भिन्न नहीं है।[4] यदि हम इसका मनन चिन्तन करें, तो समस्त रहस्य अनुभव में दृष्टिगोचर हो सकते हैं और परमशक्ति मिल सकती है, क्योंकि उस दशा में सब कुछ अपनी आत्मा ही दिखाई देता है। इसलिए अशान्ति का प्रश्न ही नहीं, वह तो सदा द्वैतभाव से होती है।[5]

उच्च शिक्षा का गौण लाभ उठाने के साथ-साथ विश्व कल्याण हेतु, श्री श्री 108 श्री अच्युतानन्द जी ब्रह्मनिष्ठ आचार्यवर की परम अनुकम्पा एवं सामर्थ्य से, मैं आध्यात्मिक साहित्य द्वारा इस संकल्प को पूरा करने के लिए एवं अल्प योगदान के लिये समुत्सुक हुआ। स्नातकोत्तर संस्कृत विभागाध्यक्षा एवं कला संकाय की डीन रही, प्रोफेसर कौशल्या वल्ली का हार्दिक आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत विषय पर लिखने की प्रेरणा सहित आशीर्वाद दिया। इसी प्रकार पूर्वाध्यक्षा प्रोफेसर वेद कुमारी घई, डॉ. रामप्रताप, डॉ. शम्भूनाथ एवं वर्तमान अध्यक्ष डॉ. महेश शर्मा के शुभ चिन्तन का भी आभारी हूँ। दर्शन शास्त्र एक अति गूढ़ एवं गम्भीर विषय है। मुझ जैसा स्थूल बुद्धि भी इसमें यत्किञ्चित् प्रवेश का समुत्सुक साक्षात् भगवती माता की अथाह अनुकम्पा ही है। उनके अनुग्रह अनुसार ही इस लघु प्रयास द्वारा जनहित का महान् कार्य हो सकता है। ज्ञान एक समुद्र है और कोई इसका पार नहीं पा सकता। इसीलिए यह अनन्तता के साथ-साथ नवीनता (चमत्कृति) का भी द्योतक है, जो एक सत्य ही होता है, अतः शिव होता है।[6] प्रस्तुत शोध-विषय

---

3. (क) द्रष्टव्य केन० उप० तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड
   (ख) "सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये. . . .।" -तदेव
4. ब्रह्म तमाराद्यात् य आत्मनोऽन्यत्र ब्रह्म वेद्। -बृहद० उप० 2-4-6
5. द्वितीयाद्वैभयं भवति। -बृहद० उप० 1-4-2
6. सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म। -तै० उप० तथा सत्यं शिवं सुन्दरम्।

भी इसी दृष्टि से लिखा गया है और अद्वैत वेदान्त एवं अद्वैत काश्मीर शैव-दर्शन में समन्वय करने का अल्प प्रयास किया गया है।

शोध-विषय को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में काश्मीर शैव दर्शन से अभिप्राय एवं उसकी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है तथा दूसरे अध्याय में वेदान्त परिभाषा एवं उस दर्शन की सामान्य विशेषताओं को निरूपित किया गया है। तीसरे अध्याय में प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में काश्मीर शैव दर्शन सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री एवं चतुर्थ अध्याय में 'वेदान्तसार' में अद्वैत वेदान्त सम्बन्धी प्राप्त सामग्री का विवेचन करके पञ्चम अध्याय में उनकी समानता एवं असमानता का निरूपण है। छठे अध्याय में 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' का काश्मीर शैव दर्शन को योगदान एवं सप्तम अध्याय में वेदान्तसार और काश्मीर शैव दर्शन की स्थिति पर सिंहावलोकन करके अष्टम अध्याय में उपसंहार प्रस्तुत करके दोनों दर्शनों को आदर्श बतलाकर इन पर चिन्तन मनन की आवश्यकता पर बल दिया गया है, जिससे सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति से इस अल्प प्रयास की कृत्कृत्यता सम्भव हो सकती है।

इस कल्याण कार्य हेतु जिन-जिन सहृदयों की उदारता से मैं निर्विघ्न शोध-विषय लिखने के लिए समर्थ हो सका हूँ- उन साक्षात् शिव-पार्वती एवं उनके परिवार स्वरूप माता-पिता, बहिन-भाई और बन्धु-जनों का हार्दिक धन्यवादी हूँ। जिन-जिन महान् विद्वानों की कृतियों से लाभ उठाकर प्रस्तुत शोध-विषय लिखने का प्रयास किया गया है, उनका हृदय से ऋणी हूँ और अज्ञानवश यदि उनमें से किसी की कृति या स्वयं को उद्धरण आदि में संज्ञित नहीं किया है तो क्षमा-याचना करता हूँ। जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत पुस्तकालय निरीक्षक एवं सहायक कर्मचारियों तथा रघुनाथ शोध पुस्तकालय एवं रणवीर संस्कृत शोध निरीक्षक की सम्बन्धित पुस्तक प्राप्ति हेतु सहायता का अति धन्यवादी हूँ। इसके अतिरिक्त प्रेस मालिक सरदार जोगिन्द्र सिंह, जो एक गुरुमुख और अत्यन्त सज्जन पुरुष हैं, का हार्दिक आभारी हूँ, जिन्होंने गहन व्यस्तता के होने पर भी समय पर प्रकाशन सहायता प्रदान की। विभागीय टंकण लिपिक लाल सिंह, विनोद शर्मा, भरत सिंह, विजय कुमार व प्रभा देवी, रमण शर्मा, सहपाठी शोधकर्ताओं एवं समस्त विभागीय प्राध्यापकों का भी हार्दिक धन्यवादी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर तत्सम्बन्धी सहायता प्रदान कर मुझे कृतार्थ किया। अन्त में अपने प्रिय आत्मीयजन करतार चन्द का हार्दिक धन्यवादी हूँ

जिन्होंने मुझे शोध से सम्बद्ध पुस्तकें प्राप्त करने में सहायता प्रदान की। परम प्रेयसी सत्यभामा एवं भगवती अनुग्रह प्रसादरूप जय भवानी सिंह व जय श्री की मंगल कामना सहित जिनकी अपार-कृपा एवं सामर्थ्य का ही प्रतीक प्रस्तुत शोध विषय है एवं समस्त विश्व जिनकी आनन्दशक्ति का ही स्फार है- उन आदि शक्ति, पराशक्ति, भगवती श्री माँ जी के चरणारविन्दों में नतमस्तक प्रणाम कर सादर समर्पित......ॐ......ॐ......ॐ।

"यत्कारुण्यलवेनैव_जगदुन्मीलति क्षणात्।
तां वन्दे शारदां देवीं काश्मीर पुरवासिनीम्।।"

जयानन्दन,
विनीत
जगीर सिंह

जनवरी, 2000

★ ★ ★

प्रथम अध्याय

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन परिभाषा, तत्त्व

परिभाषा

परमशिव को ही यथार्थसत्ता मानते हुए समस्त प्रमाता-प्रमाण प्रमेयरूप प्रपञ्च में एकमात्र उन्हीं की अभिव्यक्ति समझने वाली अद्वैत शैव दृष्टि का उद्भव एवं विकास विशेषकर कश्मीर प्रदेश में ही हुआ तथा इसके उद्भट विद्वान् एवं महा रचयिता दार्शनिक भी इसी भू-खण्ड से सुशोभित हुए- अतः इसे काश्मीर शैव दर्श नाम से अभिहित किया गया है।[1] इसके अन्य नाम ईश्वराद्धय[2], प्रत्यभिज्ञा[3], शै पराद्वैत[4], त्रिक्मत[5], शिव शास्त्र[6], शिवशासन[7], षडर्धशास्त्र[8], षडर्धक्रम[9] विज्ञान स्पन्दशास्त्र[10] एवं स्वातन्त्र्यवाद[11] आदि भी तत्सम्बन्धी विशिष्टताओं के कारण प्रसि

1. काश्मीर शैविज़्म, जे०सी० चैटर्जी, पृ० 1
2. शिव० दृ०, वृ०, आह० 2, पृ० 36
3. सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने इसे इसी नाम से संज्ञित किया है, क्योंकि इस दर्शन अपने वास्तविक स्वरूप शिव की पहचान पर बल दिया गया है।
4. परमाद्वयदृष्टिं तत् संश्रयेः श्ररणं महत्। मा० वि० वा०, 1-631
5. (क) शिवशक्तिसंघट्टात्मकं परत्रिकशब्दवाच्यम्। तंत्र० आ०, भा० 1, पृ० 7
   (ख) नरशक्तिशिवात्मकं त्रिकम्। परा० त्रिं० वि०, प्रारम्भिक श्लोक 3
6. स्वच्छ० तं०, पटल 1-15
7. तंत्र० आ०, आह० 11-3
8. तं० सा०, पृ० 92
9. तंत्र० आ० वि०, भा० 1, पृ० 28
10. स्पन्द० नि०, पृ० 3
11. ई० प्र० वि० वि०, भा० 1, पृ० 9

हैं। अपने आदर्श अद्वैत के कारण यह अन्य शैव दर्शनों से विशेष महत्त्वपूर्ण है।[12]

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के मत में परमशिव ही एक पारमार्थिक सत्य है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो भी चराचर प्रमाता-प्रमाण प्रमेयरूप प्रपञ्च दृश्यादृश्यरूप में विद्यमान हैं एवं समस्त भुवन-भाव आदि भी, उसी की अभिव्यक्ति होने से सत्य हैं अर्थात् आकाशपुष्प की तरह कल्पनामात्र नहीं।[13] वह पूर्ण चिद्रूप है, इसीलिए उसे चिति कहा जाता है और चिति ही परासंवित् है।[14] इसी को आत्मा नाम से अभिहित किया जाता है।[15] शिव से लेकर पृथिवी तक समस्त तत्त्वों की इसी आत्मा में अवस्थिति मानी गई है।[16] परन्तु यह आत्मा प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् और समस्त विश्व में सामूहिक रूप से विद्यमान होते हुए भी अविभक्त एवं असीमित रहते हुए समय, देश और रूपादि से अप्रभावित ही रहती है। इससे उत्कृष्ट और कोई नहीं है, इसीलिए इसे परासंवित् अनुत्तर, परतत्त्व आदि कहा जाता है।[17] वास्तव में पति (शिव), पशु (जीव) और पाश (बन्धन) उसी परमसत्ता के भिन्न-भिन्न स्तरों पर अपनी स्वातन्त्र्य महिमा से परिगृहीत चित्र हैं। परन्तु यह व्यावहारिक द्वैतमात्र का आभास है, यथार्थ में तो अम्बु, बुद्बुद् आवर्त, तरंग आदि जल के विकारों की भाँति एकमात्र अद्वय वस्तु वह ही है।[18]

परमशिव को सभी वस्तुओं में रहने से विश्वमय और उनसे सीमित न होने से

---

12. वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्। ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्- तं०, आ०, -आह० 1, टी०, पृ० 49

13. (क) इह हि सर्वत्र अप्रतिहतशक्ति परमेश्वर एव तथाबुभूषुस्तथाभवति, न तु अन्यः कश्चित् परमार्थतः अस्ति इति असकृदुक्तम्। -ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 233

(ख) चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरतीत्येतावत् परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः। -प्र० हृ०, पृ० 22

14. चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित्। -तं० आ०, भा० 3, पृ० 404

15. चैतन्यमात्मा। -शि० सू० 1-1

16. यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्। -प० सा० का० 11

17. अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तदनुत्तरं चिद्घनम्। -परा० त्रिं वि०, पृ० 2

18. आवर्तबुद्बुद्तरंगमयान्विकारान् अम्बो यथा सलिलमेव हि तत् समस्तम्। -उ० र० च० 3।47

विश्वोत्तीर्ण भी कहते हैं। परन्तु वह विश्वमय होते हुए ही विश्वोत्तीर्ण भी है।[19] विश्व रूप से अपने विमर्श का अवभासन करके भी आत्मा अपने अनुत्तर रूप से किञ्चिन्मात्र भी च्युत नहीं होती।[20] परन्तु विश्वरूप में अपने को अभिव्यक्त करने के लिए वह किसी दूसरे की आज्ञा या प्रेरणा से तत्पर नहीं होती, प्रत्युत् अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा से ऐसा करती है।[21] उसे ऐसा करने के लिए किसी बाह्य उपादान आदि कारण या आधार की आवश्यकता नहीं पड़ती, अपितु अपनी ही इच्छा से अपनी ही भित्ति पर विश्व का निर्माण करती है।[22] वह अपने भीतर ही बीजरूप में स्थित विश्व को दर्पण-नगर की तरह अभिन्न होते हुये भी भिन्न की तरह उद्‌भासित करती है।[23] दर्पण में तो बाह्य प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, परन्तु इसमें इसकी अपनी ही शक्तियाँ उल्टे क्रम से प्रतिबिम्बित होती हैं, कोई बाह्य प्रमेय आदि वाञ्छनीय नहीं होता। परमशिव प्रकाशरूप और विमर्शस्वभाव है। क्षेमराज कहते हैं कि स्वाभाविक 'अहं' प्रतीति ही विमर्श है। यदि परमतत्त्व प्रकाशमात्र होता और विमर्श स्वभाव न होता, तो निरीश्वर और हीरे आदि की भाँति जड़ होता।[24] यह प्रकाश और विमर्श में अविनाभाव सम्बन्ध रहता है।[25] वास्तव में यह विमर्श ही शिव की अपनी महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है।[26] इसे शिव का विशुद्ध 'अहं' कहा जाता है।[27] शिव ही प्रकाश है और शक्ति ही विमर्श है तथा शिव और शक्ति का सतत नित्य सामरस्य ही परमशिव या पराशक्ति है। जिस प्रकार अग्नि से दाहकता एवं जल से शीतलता व्यतिरिक्त नहीं[28]

---

19. अतएव अयं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मयः।
 -तं०आ०भा० 1(पृ० 105)
20. विश्वमयत्वेऽप्यस्य स्वस्वरूपान्न प्रच्यावः। -तदेव पृ० 104
21. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। -प्र० हृ० सू० 1
22. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। -तदेव, सू० 2
23. विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति। -तदेव, पृ० 26
24. विमर्शो- अकृत्रिमाहं विस्फुरणम्, यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जड़श्च प्रसज्येत्।
 -परा प्रा०, पृ० 2
25. प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्। स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात्।।
 -वि० भै० वि०, पृ० 122
26. स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः। -ई० प्र०, भा० 1, 1।8।11
27. या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्। -अ० प्र० सि०, श्लो० 15
28. (क) न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी। -शि० दृ० 3-2
 (ख) न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग् भवेत्। -तदेव 3-7

की जा सकती, उसी तरह शिव से शक्ति पृथक् नहीं हो सकती। शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकता, अपितु इससे युक्त ही समस्त सृष्टि आदि का कार्य सतत चलाता रहता है– ऐसा आदि शंकराचार्य का भी मत है।[29] यह विमर्शरूप शक्ति का ही समस्त खेल है ऐसा कहें तो अतिशयोक्ति नहीं है।[30] आचार्य अमृतवाग्भव का भी ऐसा ही मत है।[31]

क्षेमराज ने परमशिव से अभिन्नरूप पराशक्ति का "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" में ऐसा सुन्दर विशद चित्रण खींचा है, जिससे प्रतीत होता है कि समस्त लीला–प्रपञ्च उनकी स्वतन्त्र इच्छा पर ही अवलम्बित है। स्वतन्त्ररूपा चिति शक्ति से सदाशिव से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त समस्त तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं, जो पर–पर की अपेक्षा प्रधान और विशुद्ध होते हैं तथा मुख्य तत्त्व होते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार आदि समस्त विश्व उन्हीं का शक्ति स्फार है।[32] महामन्त्ररूप परावाक् शक्ति विश्व में अपने को पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी विभिन्न शक्तियों द्वारा विकसित करके समस्त शब्दजाल में अपने को विविक्त करती है। ये वे तत्त्व हैं, जिनसे संसार का व्यवहार चलता है।[33] पराशक्ति अपने को विभिन्न शक्तियों में विविक्त करके संसार को नियन्त्रित करती है। संसार में जो शुभ– अशुभ चक्र चलता है, वह पराशक्ति की सहायक ब्राह्मी आदि शक्तियों द्वारा ही चलायमान है। वे ही खेचरी, गोचरी, दिक्चरी एवं भूचरी आदि रूप से पति

29. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्
न चेदेवं देवो न खलु कुशलाः स्पन्दितुमपि। –सौ० ल० 1

30. विमर्शो सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति।
उभयम् स्कीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं–स्वभावः।
–ई० प्र० वि० भा० 1, पृ० 205

31. शाकः काशश्च काशश्च शाको भवति सर्वथा।
यः काशते स शक्नोति यः शक्नोति स काशते।। –श्री सि० रा०, का० 20

32. (क) चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। –प्र० हृ, सू० 1, पृ० 20
(ख) विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य सिद्धौ – पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः।
– प्र० हृ०, पृ० 20–21
(ग) अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।
–तदेव०, पृ० 21

33. चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी येयं परावाक्छक्तिः आदिक्षान्तरूपाशेषशक्तिचक्रगर्भिणी सा तावत् पश्यन्ती मध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिकां भासयति। – तदेव, पृ० 57–58

और पाश एवं पशु दशा का संचालन करती हैं। यह सारा पराशक्ति का ही आनन्द विलास होता है।[34] अतः अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से शिव ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण बनता है। परन्तु यह चिति जो कि समष्टि चैतन्य है, परावाक् जो नित्य शब्द है तथा पराशक्ति जो मूलशक्ति है, परस्पर और परमशिव से भिन्न नहीं हैं, अपितु एक ही है और एक ही क्रीड़ा को चलाने के लिए स्वेच्छा से भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में अभिव्यक्त होकर उसकी पूर्ति करती हैं। तात्पर्य यह है कि एक परमशिव ही अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से सर्वत्र स्फुरित हो रहा है।[35] वह ही परमकारण है।[36] यह विमर्शरूपता ही स्पन्द, स्वातन्त्र्य, चित्, परावाक्, कर्तृत्व, स्फुरत्ता आदि आदि नामों से अभिहित की गई है।[37] महाकवि कालिदास शिव और शक्ति को शब्द और अर्थ की तरह परस्पर ओतप्रोत मानते थे।[38] परमहंस श्रीरामकृष्ण का भी ऐसा ही दृढ़ मत मिलता है।[39] श्री दुर्गासप्तशती में भी शिव शक्ति एक ही तत्त्व को कहा गया है।[40] शक्ति के भी असंख्य विविध रूप हैं, जिनमें पाँच मुख्य और मूल माने जाते हैं

---

34. चितिशक्तिरेव (पराशक्तिरेव) भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती खेचरीगोचरीदिक्चरीभूचरीरूपैः अशेषैः प्रमात्रन्तः करणबहिष्करणभावस्वभावैः परिस्फुरन्ती पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किञ्चित्कर्तृत्वाद्यात्मककलादिशक्त्यात्मना खेचरीचक्रेण गोपितपारमार्थिक-चिद्गगनचरीत्वस्वरूपेण चकास्ति। -प्र० हृ०, पृ० 60
35. तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः। एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा।। -शि० दृ०, आ० 4/5
36. शिवः परम कारणम्। -तं० आ० आ० 1188
37. एष एव च विमर्शः - चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, स्पन्दः इत्यादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते। -परा प्रा०, पृ० 2
38. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। - रघु० 1-4
39. परमहंस श्रीरामकृष्ण ने ब्रह्म और शक्ति की अभेदता की सुन्दर व्याख्या करते हुए कहा है- 'जैसे, साँप कभी चल रहा है और कभी चुपचाप पड़ा हुआ है। जब वह निश्चल बना हुआ है, तब उसका पुरुष (शिव-ब्रह्म) भाव है। प्रकृति (शक्ति) उस समय पुरुष के साथ एकात्मकता प्राप्त की हुई है और जब साँप चल रहा है, उस समय मानो प्रकृति पुरुष से पृथक् होकर कार्य कर रही है। तोतापुरी, जो कट्टर ब्रह्मवादी थे, भी ब्रह्म एवं शक्ति की अभेदता उनके सान्निध्य में जान गये थे।
   - श्री० रा० कृ० ली० प्र०, द्वि० खण्ड, पृ० 382, 237, तथा 238-239
40. -"दधतीं शिवशक्तिरूपां कामेश्वरीं हृदि भजामि"-
   "एकैव अहं जगत्यत्र" तथा "अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता।"
   - दु० श०, अ० 10, ध्यान तथा श्लो० 5, 8

तथा उनमें से भी तीन प्रसिद्ध हैं– इच्छा, ज्ञान और क्रिया।[41] पाँचों शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) का संक्षिप्त विवरण इस तरह है–

(1) चित्शक्ति

यह प्रकाशरूप[42] अवभासनात्मक शिव की शक्ति है जिससे वे स्वयं सतत प्रकाशित रहते हैं, उस समय भी जब शून्य ही शून्य होता है।[43] प्रकाशरूप आत्मा का इच्छास्फुरण विश्व भी प्रकाश रूप ही है।[44]

(2) आनन्दशक्ति

परमशिव की पूर्ण आह्लादात्मक और मोदात्मक विमर्शरूप स्वातन्त्र्य-शक्ति आनन्द शक्ति है,[45] जो सदैव अपने में सर्वथा सन्तुष्ट होने से पूर्ण विश्रान्तियुक्त है एवं किसी की भी अपेक्षा नहीं रखती।[46]

(3) इच्छाशक्ति

यह सर्वसामर्थ्यसम्पन्न एवं अप्रतिहत शक्ति है, जिसे दैवी चमत्कार भी कहते हैं तथा जिससे करने, न करने का ईश्वरीय निश्चय होता है।[47]

(4) ज्ञानशक्ति

यह वह शक्ति है, ज़िससे अपने प्रति और परस्पर दूसरों के प्रति सम्बन्ध का अनुभव होता है अर्थात् ज्ञातृ-ज्ञेय का ज्ञान होता है।[48] इसे चिदात्मा की तनिक-सी वेद्योन्मुखता भी कहते हैं।[49]

---

41. शक्तयश्च अस्य असंख्येया: – तं० सा० आह० 4, पृ० 28
इत्येवं मुख्याभि: (पञ्चभि:) शक्तिभिर्युक्तोऽपि वस्तुत इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तियुक्त: – शिवरूप:।
– तदेव आह०, पृ० 6
42. प्रकाशरूपता चिच्छक्ति:। – तं० सा० आह० 1, पृ० 6
43. प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्श: अहमिति। – ई० प्र० वि० 3-1-4
44. प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो। – ई० प्र० भा० 1, 115।3
45. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्ति:। –तं० सा० आह० 1, पृ० 6
46. अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्द:। – ई० प्र० वि० भा० 1, पृ० 207
47. तच्चमत्कार इच्छाशक्ति:। – तं० सा० आह० 1, पृ० 6
48. एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्। ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।
–मा० वि० उ० तं० अधि० 3, 6-7
49. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति:। – तं० सा० आह० 1, पृ० 6

(5) क्रियाशक्ति

प्रत्येक प्रकार का, कोई भी रूप धारण करने की एवं प्रत्येक कार्य करने की सामर्थ्य को क्रियाशक्ति कहते हैं।[50] यह समस्त विश्वस्फार क्रियाशक्ति का ही रूप है।[51]

अपनी शक्ति की इन प्रमुख शक्तियों, जो कि वास्तव में असंख्य और असीमित हैं, के द्वारा परमशिव विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है अर्थात् विश्व के रूप में अपनी शक्ति को प्रकट करता है। असंख्य विश्वों की सृष्टि, स्थिति, संहार विलय और अनुग्रह क्रिया को वह सतत करता ही रहता है।[52] यह क्रमशः इस प्रकार है–

(1) सृष्टि

बहिर्मुखीभाव के अवसर पर जब नील इत्यादि विषयों को नियत देश, काल इत्यादि से आभासित करते हैं, तब नियत देश, काल आदि में जो आभासित हो रहा है, यह उनकी सृष्टि क्रिया कहलाती है। इसमें अव्यक्त रूप को व्यक्त किया जाता हैं, न कि कोई नव वस्तु उत्पन्न की जाती है।[53]

(2) स्थिति

नील इत्यादि के आभास का बना रहना उनकी स्थिति क्रिया है अर्थात् विद्यमान को स्थिर करना।[54]

(3) संहार

विषयों का अन्य देश और काल में आभासित होना उनकी संहार क्रिया है अर्थात् व्यक्त को अव्यक्त रूप में ले जाना, न कि किसी वस्तु का नाश करना।[55]

---

50. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। – तं० सा०, आह०, पृ० 6
51. क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः। – ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 42
52. नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने। – प्र० हृ०, पृ० 19
53. चिद्रूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति तदा नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्य स्रष्टृता।। – प्र० हृ०, पृ० 51-52
54. नीलाद्याभासांशे स्थापकता। – प्र० हृ०, पृ० 52
55. अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता। – तदेव, पृ० 52

(4) विलय

भेद से आभासित होना उनकी विलय क्रिया है अर्थात् अपने को छुपाना– माया के कारण अपने को जीव रूप में समझना और जगत् को अपने से भिन्नरूप में जानना।[56]

(5) अनुग्रह

विषयों का चित्प्रकाश के ऐक्य से प्रकाशित होना उनकी अनुग्रह क्रिया है। अर्थात् शक्तिपात, गुरु, शास्त्र या स्वयं द्वारा अनुग्रह करके स्वस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराकर शिव रूप में स्थित होना।[57]

यह कार्य उनका जीवदशा में भी प्रकाशन, आस्वादन, आत्मबोध, बीज का अवस्थापन और विलापन[58] भेद से सतत चलता रहता है।[59] यह जीवरूपता चित्स्वरूप में शक्ति संकोच के कारण मल से ढकने के कारण है,[60] जोकि अपने यथार्थ स्वरूप का अज्ञान ही होता है।[61] इस विश्व–लीला का आदि अन्त नहीं है। जगत् की सृष्टि के समय को उदय, उन्मेष या अवभासन कहते हैं और संहार के समय को, जबकि विश्व को अपने में बीज (शक्ति)[62] रूप से रखती है, निमेष, प्रलय आदि कहते हैं[63] तथा इसके पूर्ण चक्र को एक कल्प कहते हैं।

वास्तव में यह सब व्यावहारिक भेद हैं, पारमार्थिक रूप से तो समस्त रूपों में

---

56. भेदेन आभासांशे विलयकारिता। –तदेव, पृ० 52
57. प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता। – प्र० हृ०, पृ० 52
58. आभासनरक्तिविमर्शनबीजावस्थापनविलापनतस्तानि। –तदेव, सूत्र 11
59. तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति। – तदेव, सू० 10
60. (क) स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
    मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः। – ई० प्र०, भा० 2, 4-1-4
    (ख) नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यंप्राक्सृष्टे केवलात्मने। गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे।
    – कु० सं० 2-4
    (ग) शिवशक्त्यात्मकं जीवं यः पश्यति स वैष्णवः। –गा० तं०, 147
    (घ) चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। –प्र० हृ०, सू० 9
61. तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्। तदेव, सू० 12 तथा टीका, पृ० 56
62. बीजावस्थापन। –तदेव, सूत्र 11, पृ० 53
63. अस्यां हि चिति प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति – निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।
    – तदेव, पृ० 21 टीका

एक शिवभट्टारक ही व्याप्त हो रहा है, अन्य कुछ नहीं है। यह मुक्ति, बन्धन माया, आणव, कर्म, प्रमाता, प्रमेय, चर, अचर, सभी उसकी ही स्वेच्छा से अभिव्यक्तियाँ परिगृहीत की हुई हैं। अतः सब कुछ शिव ही है।[64]

तत्त्वनिरूपण

परमशिव

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार समय, देश और कार्य-कारण से अप्रभावित अप्रतिहतशक्ति, पूर्णानन्दघन, चित्घनस्वरूप केवल एक ही तत्त्व परमशिव है,[65] जिनमें विश्व अभेद रूप से शून्यरूप-सा रहता है। इनके चिदैक्य की अख्याति होने पर ही प्रमेय-प्रपञ्च बाह्य अस्तित्व में आता है।[66] इसके पूर्व बीजरूप से प्रकाशमय दशा में ही रहता है [67] अर्थात् वह चिन्मय है और समस्त पदार्थ भी चिन्मयरूप में ही उनमें उस समय रहते हैं।[68] परमशिव प्रकाशरूप है तथा विमर्श उसका स्वतन्त्र स्वभाव है,[69] अतः इस दशा में उन्हें अपने स्वरूप का अस्तित्व और बोध सतत अनुभव होता रहता है अर्थात् अपनी पूर्ण अहन्ता के आनन्द में स्पन्दमान् रहता है [70] एवं अपने पूर्णत्व में सदैव स्थित रहते हुए ही इस आनन्द-स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए अपने आपको ही प्रमातृ-प्रमेय के विभिन्न रूपों में अवभासित करता है। यही

---

64. (क) स चैको द्विरूपत्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः।,
 —प्र० हृ०, सू० 7 तथा टीका पृ० 38
 (ख) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
 वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।
 — श्वेत० उप० 4-1
65. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलं अभेदेनैव स्फुरति। —प्र० हृ०, पृ० 29
66. श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं सदाशिवाद्युचितेन रूपेण अवबिभासयिषुः पूर्वं चिदैक्याख्यातिमय। —तदेव०, पृ० 30
67. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः। तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।। —प० त्रिं० का० 24, 25
68. तदुत्तीर्ण शिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः।
 —प्र० हृ० टीका, पृ० 29
69. परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः। —परा प्रा०, पृ० 1
70. परमेश्वरः पूर्णत्वात्-। हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीडा। —शि० दृ० वृ०, पृ० 29

शक्ति स्फार कहलाता है।[71] इस लीला में उसके अनन्त प्रमातारूपों के शिव से लेकर सकल तक सात वर्ग किये गये हैं और उनके अनुरूप ही प्रमेय भी अनन्त रूपों में विद्यमान रहते हैं,[72] जिन्हें छत्तीस वर्गों में विभक्त किया गया है, जो तत्त्व [73] नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें क्रम से पूर्व-पूर्व तत्त्वों की उत्तर-उत्तर तत्त्वों से गुणोत्कृष्टता बताई गई है।[74] तथा पूर्व-पूर्व तत्त्व उत्तर-उत्तर तत्त्व में घट में मिट्टी की तरह व्यापक भाव से रहते हैं।[75] वस्तुतः यह वर्गीकरण अक्रम में ही क्रम का आभास है।[76] उपर्युक्त तत्त्व अभेद भूमिका से भेदाभेद और फिर भेद भूमिका में अवरोह क्रम से विश्व को अवभासित करता है।[77]

अभेद भूमि

(1) शिवतत्त्व

परमशिव की अवस्था में विश्व ऐकात्म्य रूप से विद्यमान रहता है, उसे विश्वोत्तीर्ण भाव कहते हैं। परन्तु जब विश्वमय रूप में अवभासित होने के लिए अपनी स्वातन्त्र्य-इच्छा से स्पन्दमान् होते हैं, तो उनका यह आद्य स्पन्द शिवतत्त्व कहलाता है।[78] वह अपने निषेध व्यापाररूप शक्ति से चिदैक्य की अख्याति कर देते हैं,[79] इस दशा का पर्याय अनाश्रित शिव है।[80] विश्व निषेध से शिवतत्त्व प्रकाशमात्र ही होता है।[81] अतः शुद्ध 'अहं' रूप होता है, जिसमें 'अस्मि' की भावना नहीं होती। यह

---

71. सर्व एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्तिस्फारः। -तंत्र० आ०, भा० 2, पृ० 201
72. तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्। -प्र० हृ०, सू० 3, टीका पृ० 26
73. स्वस्मिन्कार्येऽथ धर्मौघे यद्यपि स्वदृग्गुणे। आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद्व्याप्तृभावतः। तत्तत्त्वं।
 -तंत्र० आ०, भा० 6, आह० 9, 4-5
74. यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते। -मा० वि० उ० तं०, अधि० 2:60
75. क्रमेऽपि च पूर्वपूर्वंउत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ। -वि० भै० वि०, पृ० 47
76. षट्त्रिं० त० सन्०, पृ० 1
77. स्प० निर्णय०, पृ० 14
78. यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्त्रष्टुम्। पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः। -षट्० त्रिं० त० सन्०, का० 1, पृ० 1
79. निषेधव्यापाररूपा। -प० सा०, भाष्य, का० 4
80. श्रीपरमशिवः - चिदैक्याख्यातिमयानाश्रितशिवपर्यायशून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति। -प्र० हृ०, पृ० 30
81. अनन्योन्मुखः - अहंप्रत्ययः - ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 196

आभास पूर्णतः अभेद भूमि का आभास है।[82] इस दशा के अनुभावक प्रमाता "शाम्भव" कहे जाते हैं। इनमें मल का अभाव होता है, अतः "अमल" होते हैं। इस दशा के नियन्त्रक भट्टारक "शिव" होते हैं। इसमें चित्शक्ति की प्रधानता होती है।

(2) शक्तितत्त्व

चिदैक्य की अख्याति करने वाली निषेध व्यापाररूप शक्ति को शक्तितत्त्व कहा गया है। वास्तव में शक्तितत्त्व को दूसरा तत्त्व कहना औपचारिक ही है, क्योंकि इस तत्त्व के कारण ही शिवतत्त्व अभिव्यक्त होता है।[83] यह पराशक्ति के आनन्द का ही विकसितरूप होने से आनन्द अनुभवरूप [84] होने से शेष सृष्टि की बीजावस्था या योनि ही है।[85] इसमें आनन्दशक्ति प्रधान होती है। महेश्वरानन्द कहते हैं कि जब शिव अपने हृदय में स्थित अर्थतत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए उन्मुख होता है, तब वह शक्ति कहलाता है।[86] यह शिव की सर्जनोन्मुखता एवं अहं विमर्श है, अतः इसके परप्रमाता का स्वरूप 'अहमस्मि' है। वस्तुतः उक्त दोनों तत्त्व एक ही हैं, न शिव शक्तिरहित है और न शक्ति शिव रहित।[87] क्षेमराज ने इसे शिव का विश्व-सिसृक्षा प्रथम स्पन्द कहा है।[88] इस क्षेत्र के प्रमाता "शाक्त" कहलाते हैं। मल का लेशमात्र भी न होने से "अमल" भी कहे जाते हैं। परन्तु सामान्यरूप से "शाम्भव" एवं "शाक्त" "शिव" प्रमाता कहे जाते हैं। इस क्षेत्र में नियन्त्रिका भट्टारिका "शक्ति" होती है।

---

82. शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद्व्यतिरेकं न वाञ्छति। तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव।।
 –बोध० पं० द०, श्लो० 3
83. प्र० हृ०, पृ० 30 में दोनों तत्त्वों को शेष तत्त्वों से पृथक् रखा है।
84. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः। –तं० सा०, आ० 1, पृ० 6
85. प्र० हृ०, सू०, 11, पृ० 53
86. स एव विश्वमीक्षितं स्थातुं कर्तुं च उन्मुखोभवन्।
 शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः। –महा० म०, 14
87. शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं प्रकटीभवेत्।
 –वि० भै० वि०, पृ० 22
88. अस्य जगत् स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द स्वेच्छाशक्तितत्त्वम्।
 –परा प्रा०, पृ० 6-7

(3) सदाशिव तत्त्व

शिव-शक्ति तत्त्व के सतत आभासमान् होने के कारण वास्तव में यह प्रथम सृष्टि होती है, जिससे सत् का ज्ञान होता है, अतः इसे 'सादाख्य' तत्त्व भी कहते हैं।[89] इस दृष्टिकोण के प्रमाता का परामर्श 'अहं इदं' होता है, परन्तु इदं (विश्व) गौणरूप से रहता है और अहंभाव प्रधानरूप में अवभासित होता है अर्थात् अस्फुट 'इदं' को अपना ही अंश समझता है। इस दशा के प्रमाता 'मन्त्रमहेश्वर' को विश्व भेदाभेद दृष्टि से भासता है।[90] इस दशा में, विश्व के चित्रकार के मन में अस्फुट चित्र की भाँति होने से इच्छा शक्ति का ही प्राधान्य होता है,[91] अतः इसे शिव का अन्तः निमेष भी कहा जाता है।[92] इस भूमि (क्षेत्र) का अधिष्ठाता देवता भट्टारक "सदाशिव" होता है।

(4) ईश्वर तत्त्व

जिस प्रकार शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द सदाशिव तत्त्व कहलाता है।, उसी तरह उसके बहिर्मुख स्पन्द की ईश्वरतत्त्व संज्ञा है।[93] इसमें इदन्ता का अंश भी अधिक स्फुटरूप से भासता है। क्षेमराज कहते हैं कि इसमें दोनों भाव समानरूप से स्पष्ट होते हैं और प्रमाता 'मन्त्रेश्वर' होते हैं, जो भट्टारक "ईश्वर" से अधिष्ठित होते हैं।[94] राजानक आनन्द कहते हैं कि इसमें प्रमेय अधिक स्फुट होता है, अतः ज्ञानशक्ति का प्राधान्य होता है।[95] इस दशा का परामर्श इसी कारण

---

89. सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सादाख्यं तत्त्वम्। –ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 191
90. तथा च सदाशिवतत्त्वेऽहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठतो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः। –प्र० हृ०, पृ० 27
91. तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्। –षट् त्रिं० त० सं० वि०, पृ० 3
92. निमेषोऽन्तः सदाशिवः। –ई० प्र०, भा० 2, 3-1, 3
93. ईश्वरो बहिरुन्मेषः। –तदेव
94. ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्गः। –प्र० हृ०, पृ० 27-28
95. अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्तत्युद्रेकः। –षट् त्रिं० त० सं०, वि०, पृ० 4

'इदमहम्' है।[96]

(5) सद्विद्या तत्त्व

इसमें अहं और इदं दोनों परामर्श समाधृत तुला के पलड़ों की भाँति एक समान होते हैं।[97] 'अहमिदमस्मि' ऐसे रूप वाला यह शुद्ध परामर्श भेदाभेदमयी दृष्टि[98] होने से 'शुद्धविद्या' कहलाती है।[99] यद्यपि दोनों एकसम हैं, तथापि दोनों की पृथक् विशिष्टता प्रतीत होती है। इस दशा के प्रमाता "विद्येश्वर" अथवा "मन्त्र" होते हैं तथा उनका प्रमेय विश्व भी ऐसा होता है, जिसका भेद ही एक सार है। इस विद्या तत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त प्रपञ्च के भट्टारक "अनन्त" अधिष्ठाता होते हैं।[100] इस भूमि में क्रियाशक्ति की प्रधानता होती है।

इस दशा तक सभी परामर्श चैत्य होता है, अतः शुद्धाध्वा कहलाता है, क्योंकि यहाँ तक महेश्वर के स्वरूप का गोपन नहीं होता। परापर अनुभव से पहले जो शुद्ध और अविविक्त 'इदं' रूप या इकाई था अब वैसा न होकर 'इदंसर्वम्' रूप हो जाता है– समष्टि अहंकार होता है। इसमें क्रिया शक्ति प्रधान होती है।

महामाया

विद्यातत्त्व के भीतर कई एक अवान्तर सोपान भी हैं। उनमें से इस विशेष दृष्टिकोण को मन्त्रेश्वरों की शुद्ध विद्या से कुछ नीचे और तिरोधान करने वाली माया से कुछ ऊपर का स्थान दिया जाता है। इसमें "विज्ञानाकल" प्रमाता होते हैं, जो कर्तृता से शून्य होते हैं और शुद्ध बोधरूप होते हैं। इसीलिये इन्हें "विज्ञानकेवली" भी कहा जाता है। उसी प्रकार उनसे अभिन्न तथा पूर्व दशा में परिचित सकल और प्रलयाकल उनके प्रमेय होते हैं।[101] इसे महामाया कहते हैं। अहं

96. भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे एवेदमंशे यदाहमंशं निषिञ्चति तदा ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम् – इदमहमिति। –तं० आ० टी०, भा० 6, पृ० 50
97. समानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियोः। –ई० प्र०, भा० 2, 3-1-3
98. अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्। परताहन्तयाच्छादात्परापरदशा हि सा।। –ई० प्र० वि०, भा० 2, 3 ।1। 5
99. तदेषां यदेव पारमार्थिकरूपं तत्रैव प्ररूढत्वात् अहमित्यस्य शुद्धवेदनरूपत्वम्। –ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 198
100. विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथाभूता मन्त्राः प्रमातारः तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्। –प्र० हृ०, पृ० 28
101. मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानाकलाः कर्तृताशून्यशुद्धबोधात्मानः तादृगेव तदभेदसारं सकलप्रलयाकलात्मकपूर्वावस्थापरिचितमेषां प्रमेयम्। –प्र० हृ०, पृ० 28

और इदं दोनों में ऐक्य की प्रतीति होती है– अहमिदमस्मि भावना जागृत होने से क्रिया शक्ति प्रधान होती है।

भेदभूमि

विद्यातत्त्व के बाद की दशा में परमशिव के स्वरूप का गोपन हो जाता है, इसलिए इसे 'अशुद्धाध्वा' कहते हैं। स्वरूप गोपन [102] एवं सार्वभौमिक अनुभव के स्थान पर सीमित अनुभव (भेद) का प्रारम्भ करने वाला मुख्य तत्त्व माया होने से तथा शेष नीचे के समस्त तत्त्वों पर प्रभुत्व रखने से "मायाध्वा" भी कहते हैं।

(6) मायातत्त्व

यह माया परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति है, जो भेद दृष्टिकोण को भासित करने से "मायाशक्ति" कहलाती है।[103] यह एक प्रकार का अवरोधक बल है।[104] माया का मुख्य कार्य प्रमाता और प्रमेय के वास्तविक रूप के अनुभव में संकोच करके उसे परिमित करना है अर्थात् आवरण डालकर भेद बुद्धि उत्पन्न करना है, जिससे वह स्वत्व को भूलकर शरीरादि से तादात्म्य होने से सुप्त-सा (अणु) हो जाता है।[105] इसलिए इसे विमोहिनी शक्ति" कहा गया है। भेदरूप सृष्टि के कारण इसे "जड़ा" कहते हैं,[106] क्योंकि इसमें पदार्थ परिमित रूप में प्रकाशित होते हैं और शैवों ने प्रकाश की परिच्छिन्नता को ही जड़ता कहा है।[107] माया का माया शक्ति, मायातत्त्व के अतिरिक्त ग्रन्थ्यात्मक स्वरूप भी माना गया है,[108] जो प्रमाता में संकुचित जीव-स्वरूप को उत्पन्न करती है [109]– इसकी तीन ग्रन्थियों से आणव,

---

102. मायास्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः। –तं० आ० टी०, भा० 3, पृ० 283
103. परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिः उच्यते। –तं० आ०, टी० भा० 6, पृ० 116
104. तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः। –ई० प्र० वि०, भा० 2, 3-1-7
105. (क) सुप्तस्थानीयमणुम्। –तं० सा०, आ० 8।
    (ख) भेदेत्वेकरसे भातेऽहंतयानात्मनीक्षिते। शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते।। –ई० प्र० वि०, भा० 2, 3-1-8
106. (क) मायाविमोहिनी नाम। –वि० भै०, का०, 95
    (ख) सा जडा भेदरूपत्वात्। –तं० आं०, भा० 6, 9-151
107. प्रकाशपरिच्छिन्नत्वं जडस्य किल लक्षणम्। –तं० आ० टी०, भा० 6, पृ० 227
108. एवं मायायास्तत्त्वग्रन्थिशक्त्यात्मकं त्रिविधं रूपमुक्तम्। –स्वच्छ० तं० टी० भा० 5 ब, पृ० 481
109. स्वच्छ० तं० टी०, भा० 6, पटल 12, पृ० 62

मायीय और कार्म मल उत्पन्न होते हैं, जिन्हें "पाश" भी कहते हैं।[110] माया के स्तर पर "शून्य प्रमाता" या "प्रलयकेवली" होते हैं और प्रमेय भी अनुरूप ही होता है।[111] माया से युक्त "अणु" चित्त प्रधान होता है।[112] माया जीव को संसारी वस्तुओं में फंसाकर मोक्ष इच्छुकों को भ्रमाती है।[113] उपर्युक्त परिवर्तन से 'सर्वमिदं' की दशा वाले अनुभव में निम्नलिखित परिवर्तन हो जाता है, जिनको माया के पञ्चकञ्चुक या आवरण कहते हैं–

(7) कला तत्त्व

परमेश्वर का रूप गुप्त होने पर एवं अणु बनने पर, जिसके द्वारा उसका सर्वकर्तृत्व संकुचित होकर किञ्चित्कर्तृत्व में परिणत हो जाता है, उसे कला तत्त्व कहते हैं।[114]

(8) विद्यातत्त्व

जिसके द्वारा परमेश्वर का सर्वज्ञत्व परिच्छिन्न होकर किञ्चिज्ज्ञत्व में परिवर्तित हो जाता है– विद्या तत्त्व कहलाता है।[115]

(9) रागतत्त्व

जिसके प्रभाव से उसकी पूर्णतृप्ति (पूर्णत्व) परिमित होकर यत्किञ्चित्‌भोगों में आसक्त हो जाता है– रागतत्त्व होता है।[116]

(10) काल तत्त्व

उसके नित्यत्व का संकुचित होकर भूत, वर्तमान और भविष्य में परिच्छिन्न हो जाना– कालतत्त्व कहलाता है।[117]

(11) नियति तत्त्व

परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का संकुचित होकर विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारण का नियम धारण करना एवं व्यापकत्व का परिमित होकर किसी विशिष्ट देश में परिच्छिन्न हो जाना– नियति तत्त्व कहलाता है।[118]

---

110. इसीलिए माया को "पाशानामुत्यत्तिभूः" कहते हैं। "आणव मल" से जीव अपने को परमित (अणु) मानता है, "मायीय मल" से प्रमेय-प्रपञ्च को अपने से भिन्न, अनेकत्व के रूप में देखता है तथा "कार्ममल" से शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता बनने से संसृति चक्र में पड़ता है।
111. मायायां शून्यप्रमातृणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं प्रलीनकल्पं प्रमेयम्।
112. चित्तमेव तु मायाप्रमातुः और "तन्मयो मायाप्रमाता।" –प्र० हृ०, पृ० 28
113. भ्रमयत्येव तान् मायाह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया। –स्वच्छ तं०, पटल 10, श्लो० 1141
114, 115, 116, 117, 118. तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्वशक्त्यः संकोच गृहणाना यथाक्रमं कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भान्ति। –प्र० हृ०, पृ० 49

इस तरह माया और उसके पाँच कञ्चुकों द्वारा जिस प्रकार प्रमाता सीमित हो जाता है, उसी के अनुरूप प्रमेय भी। यह परिवर्तन माया द्वारा कल्पित एवं अणु द्वारा परिगृहीत होता है, परन्तु इससे उसकी चैतन्यता में अन्तर नहीं आता, चूँकि वह अपरिवर्तनशील है।

(12) पुरुष तत्त्व

इस तरह माया एवं उसके कञ्चुकों से परिमित चिदात्मा पुरुष, अणु, जीव आदि कहा जाता है। वास्तव में ऐसा केवल दिखाई-सा देता है और इस आभास के कारण ही वह पूर्णत्व से अणुत्व को प्राप्त-सा करता है [119]- यथार्थ में तो वह परमशिव ही होता है।[120] इस आभास के कारण ही माया द्वारा संकोच, परिमितत्व, भिन्नत्व एवं गुणत्व प्राप्त करके अपने जैसे अणुरूप और अनन्त पुरुषों को उत्पन्न करता है, जो स्वतन्त्र अस्तित्व अपनाते हुए जीवाणु की तरह स्वभाव से अप्रभावित रहते हैं। [121] इस दशा में तीनों- आणव, मायीय, कार्म-मल रहने से इसे "सकल" कहा जाता है। देव, मानव और तिर्यक् सर्ग इसी श्रेणी में आता है। जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक शुभाशुभ कर्मों के प्रभाववश इसी का नाना योनियों एवं लोकों में आवागमन चक्र होता है।

(13) प्रकृति तत्त्व

शुद्ध विद्या की सार्वभौम दशा का परिमित अनुभव ही पुरुष तथा प्रकृति है। ये दोनों एक साथ ही आभासित होते हैं। [122] प्रकृति को कला का वेद्यरूप कार्य माना गया है [123] और वह सत्त्व, रजस्, तमस् तीन गुणों की साम्यावस्था है। [124] स्वतन्त्रेश अनन्त जीवात्माओं को कर्मानुसार फल दिलाने के लिए प्रकृति को क्षुब्ध करता है, जिससे तीनों गुण क्षुब्ध होकर जगत्कार्य का विस्तार करते हैं। [125] प्रत्येक पुरुष के लिए

---

119. मायागृहीतसंकोचः शिवः पुंतत्त्वमुच्यते। -अनु० प्र० प०, श्लो० 32
120. सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव। -प्र० हृ०, पृ० 32
121. मायाविभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलभावेषु। नित्यं तस्य निरङ्कुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे। -त० स०, 5
122. सममेव हि भोग्यंभोक्तारं च प्रसूयते। -तं० आ०, भा० 6, 9 ।215
123. वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं (प्रकृतिं) सूयते कला। -तं० आ० आ० 9 ।214
124. तदेव (प्रकृतितत्त्वं) तु भोग्यसामान्यम् प्रक्षोभगतं गुणतत्त्वम्। -तं० सा०, आह० 8
125. ईश्वरेच्छावशक्षुब्धलोलिकं पुरुषं प्रति। भोक्तृत्वाय स्वतंत्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेत् भृशम्। -तं० आ०, भा० 6, ।225 और 9। 223, तं० सा०, आह० 8

भिन्न-भिन्न होने से प्रकृति असंख्य मानी गई है।[126] शून्य आदि प्रमाता के अपने से व्यतिरिक्त वेद्यमात्ररूप वाले प्रकृतितत्त्व से कार्य और करण भाव से 23 प्रकार के प्रमेयों का विकास होता है।[127]

बुद्धि से पृथिवी तक 23 तत्त्व

(14) बुद्धि तत्त्व : ज्योंही पुरुष प्रकृति में अपनी प्रथम चेतना का अनुभव करता है, तो ऐसा अनुभव बुद्धि तत्त्व कहलाता है, जिसे सत्तामात्र की प्रतीति होती है।[128] यह प्रकृति तत्त्व के सत्त्व गुण का विकास होता है।[129] इसमें शाँत, आह्लादात्मक प्रकाश होता है, जड़ता गतिभाव आदि भाव नहीं।[130] यह निश्चयात्मिका होती है और दो प्रकार का अनुभव रखती है- **बाह्य** - जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होता है, जैसे घटादि। और **आन्तरिक** - जो संस्कारों द्वारा उद्भूत कल्पनाओं से होता है।[131]

(15) अहंकार तत्त्व : बुद्धितत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। इसके द्वारा अहं प्रतीति होती है और सब प्रमेयों से तादात्म्य स्थापित करता है, जिससे वे अपने माने जाते हैं।[132] प्रकृति का रजस् गुण मुख्य होता है एवं पराशक्ति की इच्छा शक्ति से प्रभावित होता है। इसमें प्रथम क्रिया का अनुभव-सा होता है और यह दुःखात्मक है।[133]

(16) मन तत्त्व : अहंकार से मन उत्पन्न होता है। यह क्रिया प्रधान संकल्प-विकल्पशील, तमोगुणरूप तथा क्रियात्मक है।[134] यह इन्द्रियों को ठोस चित्र बनाकर देता है। यह इच्छाओं का घर है और उभायात्मक है।[135]

---

126. तं० आ०, टी०, भा० 6, पृ० 172
127. त्रयोविंशतिधा मेयं यत्कार्यकरणात्मकम्। तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्। -ई० प्र० भा० 2, 3-1-10
128. सत्तामात्रे महति आत्मनि। -यो० भा०, 2, 19 पृ० 76
129. ज्ञानमपि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धि। -त० सन्०, 15
130. सुखं सत्त्वं प्रकाशत्वात् प्रकाशोऽह्लाद उच्यते। -तं० आ०, आ० 9 ।221
131. (क) तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात्। -सां० सू० 2, 42
(ख) मायाशक्ति विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा। कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादि नामभिः। -ई० प्र०, ज्ञा० अ० 7, आ० 1
132. इच्छास्य रजोरूपाहंकृतिरासीदहंप्रतीतिकरी। -त० स० 14
133. दुःखं रजः क्रियात्मत्वात् क्रिया हि तदतत्क्रमः। -तं० आ०, सन्० 9 ।222
134. (क) तस्य क्रिया तमोमयमूर्तिमन उच्यते विकल्पकारी। -त० सन्०, 15
(ख) चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। -भ० गी० 6 ।34
(ग) मोहस्तमो वरणकः प्रकाशाभावयोगतः। -तं० आ०, आह० 9 ।222
135. उभयात्मकं मनः। -सां० द० 2-26, 27

बुद्धि, अहंकार और मन अपने-अपने अस्तित्व में रहकर सतत कार्य करते रहते हैं- इन तीनों का समूह अन्त:करण कहलाता है। अहंकार से मन के साथ-साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी प्रकट होती हैं।

(17-21) ज्ञानेन्द्रियाँ : जब मन में विषयों के ज्ञान करने की इच्छा हुई, तो तत् ग्राहक इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई, जिन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ या बुद्धि-इन्द्रियाँ कहते हैं। ये क्रमश: इस प्रकार हैं- श्रवणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय जिनसे क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण होता है।

(22-26) तन्मात्रायें : इन्द्रियों से सम्बन्धित प्रमेय "तन्मात्रा" है जिसका तात्पर्य है, उतना ही। ये सामान्य गुणों से युक्त होती हैं। क्रमश: इस प्रकार हैं- शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, तथा गन्ध तन्मात्रा।

(27-31) कर्मेन्द्रियाँ : ग्रहण के पश्चात् विसर्जन आदि की क्रिया स्वाभाविक है, अत: इसकी अपेक्षा से तत्- तत् इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, जो कर्मेन्द्रिय कहलाती है। ये क्रमश: वागिन्द्रिय, हस्तेन्द्रिय, पादेन्द्रिय, पायवेन्द्रिय, उपस्थेन्द्रिय हैं।

ये सब स्वतन्त्र न होकर परस्पर सहयोग से कार्य करती हैं।

(32-36) स्थूलभूत : अपनी-अपनी विभिन्नताओं से तन्मात्रायें अपने परिणाम रूप में विशेष प्रमेयों में अभिव्यक्त हो जाती हैं, जिन्हें स्थूलभूत कहते हैं। ये क्रमश: इस प्रकार हैं :-

शब्द तन्मात्रा से आकाश, जिसका शब्द गुण है। स्पर्श तन्मात्रा से वायु, जिसका स्पर्श गुण है। रूप तन्मात्रा से अग्नि, जिसका रूप गुण है। रस तन्मात्रा से जल, जिसका रस गुण है। गन्ध तन्मात्रा से पृथिवी, जिसका गुण गन्ध है।

इन्हीं तन्मात्राओं तथा स्थूलभूतों से विश्व के विविध एवं अनन्त विषय-भोग-पदार्थ तथा भुवनादि बनते हैं। वास्तव में इनके बिना संसार का कोई पदार्थ नहीं।[136] इन सब रूपों में विश्वमय रूप से अभिव्यक्त होने के अतिरिक्त परमशिव सबसे अनुत्तर एवं सबको व्यापक करके, सब से अगम्य होकर परासंवित् के रूप में स्थित है। उस पर समय, देश, रूप, आदि कोई भी सम्बन्ध प्रभाव नहीं डालता। जिस प्रकार अनन्त लहरों के रूप में प्रथित होकर भी समुद्र अपने लहर-रूपोत्तीर्ण समुद्रत्व से च्युत नहीं

---

136. द्रष्टव्य "काश्मीर शैविज़्म" -जे० सी० चैटर्जी

होता, उसी तरह समस्त प्रमेय-प्रपञ्च आदि के रूप में अभिव्यक्त होकर भी परमशिव में कोई अन्तर नहीं आता।[137] इसी तरह शिव तत्त्व भी अनुत्तर और व्यापक है और विविध रूपों में माया के कारण गुणित, विविक्त होने पर भी अप्रभावित ही रहते हैं अर्थात् सदाशिव से लेकर पृथिवी तत्त्व तक एक परमशिव ही है। अतः विश्व भी सत्य है।[138] शिव से लेकर सद्विद्या तत्त्व सार्वभौम हैं। माया भी एक प्रकार से सार्वभौम है।[139] क्योंकि सभी पुरुषों के लिए केवल एक और वही माया तत्त्व है, यद्यपि शुद्धाध्वा-प्रमाताओं के समान यथास्थिति अनुरूप तादात्म्य उनका नहीं होता। पुरुष एवं पाँच कञ्चुकों से लेकर पृथिवी तक सभी तत्त्व परिमित होते हैं। विविक्त दशा के अतिरिक्त तत्त्वों का सामूहिक अस्तित्व भी होता है, जैसे जीवाणुओं का निजी स्वतन्त्र एवं सामूहिक रूप में किसी जीव का जीवन। इन्हें तत्त्वेश कहते हैं[140]– जैसे प्रकृतितत्त्व का तत्त्ववेश है 'श्रीकण्ठनाथ' और भौतिक तत्त्वों के क्षेत्र में ब्रह्मा। यह सारा खेल पराशक्ति चलाती है, जो समस्त विश्व को अपने में बीज रूप में रखती है– यह शून्य नहीं है।[141] व्यवहार में द्वैत-सा लगने पर भी परमार्थ में प्रमेय-प्रपञ्च एक परमशिव ही है।[142] इस प्रकार एक ही पारमसत्ता एक ओर शिव से लेकर सकल पर्यन्त सात प्रमाताओं और शिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के रूप में विश्वमय लीला करती है और दूसरी ओर अपने विश्वोत्तीर्ण रूप से अच्युत भी रहती है।

---

137. तत्र वीचित्वमापन्नं न जलं जलमुच्यते। न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता।
  –शि० दृ०, आ० 3-37-38

138. स्वयंप्रकाशरूपः परमेश्वरः पारमेश्वर्या शक्त्या शिवादिधरण्यन्त – जगदात्मना स्फुरति प्रकाशते च।
  –परा प्रा०, पृ० 3

139. (क) मायातत्त्वं विभु किल गहनरूपं समस्तविलयपदम्। –तं० आ० भा० 5, 8 ।322
  (ख) व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात्। शिव-शक्त्याविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम्। –तं० आ० भा० 6, 9 ।152

140. तं० आ० 8

141. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः। तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।
  –परा त्रिं, का० 24

142. यथाम्बुधेस्तरंगाणां चैक्येऽपि व्यवहारभेदस्तथा शिवस्य विश्वस्य च।
  –शि० दृ० वृत्ति, पृ० 113

बन्ध

वास्तव में शिव ही अपनी स्वातन्त्र्य महिमा में अपनी शक्तियों में संकोच करके मल से आवृत होकर जीव बन जाता है। [143] इसी मल को अज्ञान कहते हैं– जो ज्ञान का अभाव न होकर परिमित ज्ञान होता है। [144] यह अज्ञान ही बन्धन का कारण होता है। [145] अवरोह–लीला में अपने स्वातन्त्र्य से मल की कल्पना मात्र होती है,[146] परन्तु ज़ब इस पारिमित्य को यथार्थ समझ लेता है, तो यह प्रतीति ही उसको संसारी बना देती है। [147] इससे शिवस्वरूप में संकोच से आणव मल,[148] अणुता को प्राप्त होने से भेद–दृष्टि रूप मायीय मल,[149] इसके प्रभाव से जन्म–मरणरूपी संसृति चक्र का कारण कार्म–मल [150] उसे माया शक्तिवश दृढ़ता से पकड़कर सर्वज्ञत्वादि शक्तियों को परिच्छिन्न कर अल्पज्ञत्वादि से बद्ध कर शक्तिदरिद्र बना देते हैं, अपनी शक्ति विकास में तो वह शिव ही होता है। [151]

मोक्ष

ईश्वर अनुग्रह या शक्तिपात, गुरु वचन, शास्त्रादि या अपने अनुभव के अभ्यास से अपने स्वरूप की यथार्थ प्रतीति ही मोक्ष कहलाती है। [152]

---

143. चिद्वतच्छक्ति संकोचात् मलावृतः संसारी। –प्र० हृ० सू० 9, पृ० 48, सू० 12, पृ० 56

144. तं० आ० टी० भा० 6, पृ० 227

145. (क) अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्। –तं० सा, पृ० 5
(ख) ज्ञानं बन्धः। –शि० सू० 1–2

146. देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः। रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनेककः।।
–तं० आ० भा० 8, आ० 13 ।103

147. केवलं एताः बन्धमोक्षादिकल्पना मायाशक्तिवशात्। अपरामृष्टस्वरूपस्यैव ननु चिदद्वैतपरामर्शशीलस्य।। –वि० भै० विवृति, पृ० 120

148. संकोच एव पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्। –स्वच्छ० तं० टी०, भा० 5 ब, पृ० 519, तथा प्र० हृ०, पृ० 48

149. भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्। –ई० प्र० भा० 2, 3–25 तथा प्र० हृ०, पृ० 48–49

150. तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्। –ई० प्र० भा० 2, 3–2–10 तथा एतदेव

151. "तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्र संसारी उच्यते। स्वशक्तिविकासे तु शिव एव"। –तदेव

152. (क) सम्यग्ज्ञानस्वभावा हि विद्या साक्षात्विमोचिका। –तं० आ० भा० 9, 15–9
(ख) मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः। –तदेव, भा० 1, 1–156

इस दशा में प्रमाता अपने स्वरूप को शरीर, बुद्धि, प्राण, शून्यादि से परम शुद्ध संवित् रूप समझता है और समस्त विश्व को चिन्मयरूप से अनुभव करता है।[153] अतः मुक्ति कोई नव उपलब्धि नहीं, प्रत्युत् मलादि के कारण देहादि में कल्पित तादात्म्य के विलापन से चिदात्मस्वरूप की पुनः अभिव्यक्ति ही है।[154]

जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति : जब शास्त्र या गुरुवचनादि से शरीर रहते ही देहादि के प्रति तादात्म्यभाव विगलित हो जाता है[155] एवं अपने शुद्ध संवित् चिदात्मा में, व्यावहारिक जीवन व्यापार में भी अभ्यास की परिपक्वता से शिवता का चमत्कार बना रहता है अर्थात् वह अपने को शिवरूप ही समझता है, तो ऐसा विश्व को चित् का विकास ही मानने वाला जीवन्मुक्त कहलाता है।[156] वह समस्त विश्व से तादात्म्यभाव रखता है।[157] अपने वास्तविक स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान से वह संसृति चक्र से सर्वथा परिमुक्त होकर देहपात होने पर साक्षात् शक्तिघनरूप शिव ही हो जाता है– इस सत्यमुक्ति को विदेहमुक्ति कहते हैं। यह शिव-शक्ति या प्रकाश-विमर्श के सघन सामरस्य की दशा होती है, यही शुद्ध संविद्रूपता ही मुक्ति है एवं पराद्वैत है।[158]

उपाय : जप, तप, ध्यान, धारणा, पूजा आदि सभी आन्तर एवं बाह्य उपाय माया क्षेत्रवर्ती हैं और आत्मा से ही आभासित होने से घट की तरह शुद्ध प्रकाशरूप सूर्य चैतन्य को प्रकाशित नहीं कर सकते।[159] परन्तु मलावरण का प्रक्षालण करने से शुद्ध संवित् के चमकने से व्यवहार में यही मुक्ति के उपाय कहे गये हैं। इन उपायों से

---

153. बललाभे विश्वमात्मसात्करोति। –प्र हृ० सू० 15 और 13, पृ० 69, 65 तथा वि० भै० श्लो० 109
154. मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र। अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः। –प० सा०, का० 60
155. शि० दृ० 7 15-6
156. एवमिदं–। ते स्वरूपविकासमय विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता इत्याम्नाताः।
तथा–चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।
–प्र० हृ० पृ० 52-53, तदेव, सू० 16 पृ० 71
157. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः। विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।
–ई० प्र० भा० 2, 4-1-12
158. विश्वात्मं विश्वोत्तीर्णं च स्वतन्त्रं दिव्यमक्षरम्। अहमित्युत्तमं तत्त्वं समाविश्य विभेति कः।
–वि० भै० वि०, पृ० 90, तथा श्लोक 15
159. उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः। –तं० आ० टी०, भां० 1, आ० 2, पृ० 3 तथा तं० सा०, पृ० 9

समावेश लाभ होकर शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठान हो जाता है।[160] शैवागमों में स्वरूप-लाभ अथवा शिवत्व (मुक्ति) प्राप्ति के लिये अनेकों उपायों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से मुख्य चार आरोहण क्रम से ये हैं :-

आणवोपाय : इस उपाय में चित्त को अपने से भिन्न वस्तुओं पर स्थिर करके भावना के द्वारा उनको आत्मपरमेश्वर के रूप में ही समझने का अभ्यास किया जाता है।[161] यह आलम्बन बुद्धि, प्राण, देह और बाह्य-प्रमेय जगत् होते हैं, जो कल्पनारूप क्रिया एवं ध्यानादि मानस क्रिया से साध्य हैं। इसीलिए इसे क्रियोपाय तथा भेदोपाय भी कहते हैं।[162] अभ्यास के दढ़ होने पर जड़ता दूर होने से स्वरूप पहचानकर शिवरूप ही हो जाता है।

शाक्तोपाय : इस योग में ज्ञान एवं भावना की ही प्रधानता होती है, अतः इसे ज्ञानोपाय, भावनोपाय, भेदाभेदोपाय आदि कहते हैं। शरीरादि के बन्धन कारण अहंता-ममतादि अशुद्ध विकल्पों को त्यागकर 'मैं परम शिव ही हूँ', सब कुछ मेरी ही अभिव्यक्ति है- ऐसे शुद्ध एवं परिपूर्ण शिवभाव की भावना करना शाक्तोपाय कहलाता है।[163] इसमें साधक का चित्त ही आधार बनता है।[164] शुद्ध ज्ञान प्राप्ति में याग, होम, जप, व्रत और योग प्रसिद्ध हैं,[165] जिनके विकल्प ज्ञान के दर्पण में अपने संकल्पविकल्पात्मक रूप को पुनः पुनः भैरवभाव से देखते हुए शिवैक्य स्थापित हो जाने से मुक्त हो जाता है।[166]

---

160. क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुख समाविष्टो भवति साधकः। -प्र० हृ० पृ० 86
161. यदा तूपायन्तरमसौ स्वसंस्कारार्थं विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणदेहघटादिकान् परिमितरूपानुपायत्वेन
गृह्णन्नणुत्वं प्राप्त आणवं ज्ञानमाविर्भावयति। -तं० सा०, पृ० 35
162. तं० आ० 1 ।149
163. सर्वाहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पनावमर्शरूपः शाक्तः। -वि० भै० वि०, पृ० 19, तथा तं० सा०, पृ० 21
164. उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्। यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते। -मा० वि० तं० 2-22
165. तं० सा० पृ० 25
166. तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि। आत्मानं भैरवं पश्यन्नचिरात्तन्मयीभवेत्। -तं० आह० 8 ।208, 209

शाम्भवोपाय : चित्त को सर्वथा सकल मानसिक व्यापारों से शाँत कर, उसकी स्थिरता का अभ्यास किया जाता है।[167] चलती हुई वायु से रहित स्थान पर जलते हुए दीपक की प्रभा की तरह स्थिर अवस्था में स्वतः अपने में ही ठहरे रहने का अभ्यास शाम्भवयोग कहलाता है।[168] निर्विकल्प प्रमाता की तीव्र इच्छामात्र से स्पन्दरूपा इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है, तथा अभ्यास से दृढ़ होने पर बिना इच्छा से ही, शिवभाव का समावेश होने लगता है।[169] इसे इच्छोपाय या अभेदोपाय भी कहते हैं।[170]

अनुपाय : शाम्भवोपाय की पराकाष्ठा ही अनुपाय है।[171] काश्मीर शैव दर्शन में बिना किसी जप-तप आदि कठोर अभ्यास के सहज ही स्वरूप ज्ञान कराने का सब से सरल उपाय यही है। सिद्ध गुरु के कथनमात्र से निर्मलचित्त साधक 'मैं शुद्ध संवित् हूँ' ऐसा परिपूर्ण शिवभाव का साक्षात्कार तत्क्षण ही कर लेता है, जैसे एक दीपक की ज्योति दूसरे में स्पर्शमात्र से संक्रान्त हो जाती है, इस तरह वह सिद्ध बन जाता है और समस्त विश्व को अपने से अभिन्न मानने लग जाता है।[172]

इन मुख्य उपायों के अतिरिक्त अन्य भी उपायों को योग माना गया है, जिनसे शिव और जीव का एकत्व ज्ञान हो जाये, क्योंकि इस एकत्व को ही योग कहा गया है।[173] पतञ्जलि चित्तवृत्ति निरोध को योग मानता है,[174] परन्तु इसमें बलात् ऐसा

167. अविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेशः। -वि० भै० विवृति, पृ० 19
168. (क) भ० गी० 6-19
(ख) अमन०योग 1 ।40
(ग) निराधारंमनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्। तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने। -वि० भै० 108
169. तं० सा० पृ० 10
170. अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं। -तं० आह० 1-230
171. स एव परां काष्ठां प्राप्ताश्चानुपाय इत्युच्ते। -तं० आ० टी० भा० 1 आ० 2, पृ० 182
172. (क) तं० आ० आह० 2, पृ० 2, 3
(ख) उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्, घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः। विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः, स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात्। -तं० सा, पृ० 9
173. (क) योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना। -मा० वि० तं० 4-4
(ख) समत्वं योग उच्यते, योगः कर्मसु कौशलम्। -भ० गी० 2।48, 50
174. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। -यो० सू० 1-2

करना भयावह बतलाया गया है।[175] इसमें प्रारम्भ में चित्तवृत्ति को शिवता से ओतप्रोत करके, अभ्यास दृढ़ हो जाने पर भावना के बिना भी समावेश लाभ बताया गया है। उपादान के बाद त्याग दिये जाने वाले को उपाय नाम से संज्ञित करते हैं।[176] क्षेमराज ने विकल्पक्षय, शक्ति-संकोच-विकास, वाहच्छेद, आद्यन्तकोटिनिभालन आदि अवान्तर उपायों को भी लाभदायक बताया है।[177] फिर भी ये उपाय पूर्णतया भिन्न नहीं हैं, अपितु विविध रूप से मिलते-जुलते हैं। वे सब एक ही लक्ष्य पर अग्रसर होते हुए मानव की मुक्ति का कारण उसको स्वयं ही मानते हैं। अनुग्रह और शक्तिपात- दो प्रसिद्ध दैवी उपाय कहे जाते हैं- सृष्टि प्रक्रिया का पाँचवां कृत्य अनुग्रह है जिसमें शिव की कृपा होने से जीव को परिज्ञान हो जाने से वह संसार आदि दूसरी दशाओं पर विजय पाकर मुक्त हो जाता है। शक्तिपात में अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से शिव स्वयं जीव को सर्वथा असमर्थ देखकर कृपा करते हैं और मुक्ति दिलाते हैं।[178] वैसे शाम्भव को साक्षात्[179] उपाय और अन्य उपायों का मूल भक्ति को माना गया है।[180] अतएव भक्ति ही मोक्ष का परम उपाय है।[181]

★ ★ ★

---

175. स्वं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरुन्धतो। तेषां तत् खण्डनायोगाद् धावत्युत्पथकोटिभिः। -मा० वि० वा० 2-109, 110 तथा यथा निरंकुशो हस्ती कामान् प्राप्य निवर्तते। अवारितं मनस्तद्वत् स्वयमेव विलीयते। -अमन० यो० 2 ।73

176. उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते। -तं० आ० सं० 3, पृ० 46

177. विकल्पक्षयशक्तिसंकोचविकासवाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादय इह उपायाः। -प्र० हृ० सू० 18, पृ० 75

178. प्र० हृ० भूमिका, पृ० 16

179. साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन। -तं० आ० टी० भा० 1, अ० 2, पृ० 182

180. न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्। एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्। -शि० स्तो० 1 ।1

181. भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभियीयते। -तं० आ० टी० भा० 13, पृ० 137

द्वितीय अध्याय

अद्वैत वेदान्त – परिभाषा और विशेषतायें

परिभाषा

'विद् धातु' से तात्पर्य है– जानना, अत: इससे व्युत्पन्न शब्द वेद, जानने की प्रक्रिया 'ज्ञान' का बोधक है। ज्ञान की पराकाष्ठा ही 'वेदान्त' शब्द का अभिप्राय है। विद्या (ज्ञान) को दो प्रकार का माना गया है– पराविद्या तथा अपराविद्या। अपराविद्या तो सांसारिक व्यवहार में कुशलता प्रदान करती है और पराविद्या, जल में कमल की तरह संसार में रहते हुए भी, निर्लेप रखकर परमसत्ता की अनुभूति का मार्ग प्रशस्त करती है।[1] जो बाँधता नहीं है, वही सत्कर्म है और जो राग-द्वेष आदि विषमता वाले संसृति-चक्र को काटकर मोक्ष (परमानन्द) उपलब्ध करती है, वही पराविद्या है।[2] इसको साक्षात् भगवान् का स्वरूप बतलाया गया है।[3] ज्ञान के अथाह स्रोत एवं अपौरुषेय ज्ञान-सम्पत् के प्रतिपादक ग्रन्थ वेद नाम से अभिहित हैं, जिनके संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्– चार-चार भाग होते हैं। प्रथम तीन भागों में प्राय: कर्म, उपासना, आदि मार्गों का ही उल्लेख मिलता है और अन्तिम में उत्कृष्ट ज्ञान का। अत: उपनिषदों को सबसे अन्त में रखे जाने के कारण भी वेदान्त कहा जाता है और सबसे श्रेष्ठतम माना जाता है। उपनिषदों के पोषक एवं प्रतिपादक अन्यधार्मिक शास्त्रों को भी वेदान्त के अन्तर्गत ही समझा जाता है।[4] उपनिषद् 'शब्द', 'उप' तथा 'नि' उपसर्गों सहित 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय लगाने से सम्पन्न होकर– विशरण,

1. द्वे विद्ये वेदितव्ये– परा चैवापरा च। – परा यया तदक्षरमधिगम्यते। –मु० उप० 1-1-4,5
2. तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये। –उप०
3. अध्यात्मविद्या विद्यानां। –भ० गी० 10 ।32।
4. वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम् – सूत्रादीनि च। –वे० सा० पृ० 2

गति और अवसादन का द्योतक होता है। अतः जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाली संसारबीजरूपी अविद्या का नाश करती, ब्रह्म की प्राप्ति कराती एवं जीव के गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःखों को सर्वथा शिथिल करती है– वही उपनिषद् है।[5] गूढ–धर्म एवं रहस्य के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग होता है।[6] 'उप+निषद्' का तात्पर्य समीप बैठना भी होता है, जिससे विद्वानों ने अग्नि के पास बैठना, गुरु के समीप बैठना, तपस्या से प्राप्त ज्ञान आदि अनेक व्याख्यायें की हैं। इसलिए इसका मुख्य तात्पर्य यथार्थ स्वरूप विवेचन करके परमशान्ति दिलाना ही है।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता– ये तीन वेदान्तदर्शन के प्रस्थानत्रयी कहे जाते हैं। इनमें उपनिषद् श्रवणात्मक, ब्रह्मसूत्र मननात्मक एवं गीता निदिध्यासनात्मक है। प्राप्त उपनिषदों की संख्या लगभग 220 है[7], जिनमें से विद्वानों के अनुसार लगभग 20 ही प्राचीन कहे जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्त में जुड़े हुए प्राप्त उपनिषद् सर्व प्राचीन माने जाते हैं, जैसे– ऐतरेय (ऐतरेय ब्राह्मण, ऋग्वेद), कौषीतकि (कौषीतकि ब्राह्मण, ऋग्वेद), तैत्तिरीय (तैत्तिरीय संहिता, कृष्णयजुर्वेद), बृहदारण्यक (शतपथ ब्राह्मण, शुक्लयजुर्वेद), छान्दोग्य (छान्दोग्य ब्राह्मण, सामवेद की ताण्ड्यशाखा), केन (तलवकार या जैमिनीय ब्राह्मण, सामवेद) ये सभी उपनिषद् गद्य में हैं और केवल केनोपनिषद् का आधा भाग पद्यमय है। इन उपनिषदों में वेदान्तदर्शन अपने शुद्ध तथा मूल रूप में सुरक्षित है। दूसरे भी किसी न किसी वैदिक शाखा से सम्बद्ध माने जाते हैं तथा पद्यमय हैं। जैसे कठोपनिषद् (काठक संहिता, कृष्णयजुर्वेद), श्वेताश्वतर तथा महानारायण (तैत्तिरीय संहिता, कृष्णयजुर्वेद), ईश (वाजसनेयी संहिता, शुक्लयजुर्वेद) तथा मुण्डक और प्रश्न (अथर्ववेद) इनमें सांख्य और योग के तत्त्व भी मिलते हैं। मैत्रायणी (कृष्णयजुर्वेद) तथा माण्डूक्य (अर्थववेद) भी अत्यन्त लाभदायक है।[8] इन्हीं 14 उपनिषदों पर शंकर आदि विद्वानों ने भाष्य लिखे हैं। अतः यही उपनिषद् साहित्य प्रायः वेदान्तदर्शन का मूलस्रोत माने जाते हैं और वेदान्त नाम से अभिहित किये जाते हैं।

---

5. द्रष्टव्य कठ० उप० शां० भा०, भूमिका।
6. धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात् (अ० को०), जैसे 'इत्युपनिषत्' (तै० उप०)
7. कल्याण जनवरी, 1949 (गीताप्रेस गोरखपुर) पृ० 153 तः 156
8. वे० सा०, पृ० 3 तथा स्पेशल लैक्चरज़ आन शैव सिद्धान्त, पृ० 9

ब्रह्म

वेदान्तदर्शन की विशेषतायें

वेदान्तदर्शन में ब्रह्म को सर्वव्यापी यथार्थसत्ता माना जाता है और वह जगत के अणु-अणु में व्याप्त, निराकार, निर्विकार, अनादि, नित्य, अविनाशी, चैतन्य तथा आनन्दमय है।[9] आत्मा का अस्तित्व ही ब्रह्म के होने का साक्षात् प्रमाण है- आत्मा ब्रह्म ही है।[10] वह शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसमन्वित माना जाता है।[11] ब्रह्म के निर्गुण एवं निर्विशेष होने से मन, वाणी आदि उसका पार नहीं पा सकते। इसलिए उपनिषदों में 'नेति-नेति' को ब्रह्मवाचक यत्किञ्चित् निषेधात्मक संकेत उपयुक्त समझा गया है।[12] अतः उसकी निर्देशक बातें लक्षण न होकर लिंगमात्र ही हैं।[13] वह जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है तथा सृष्टि, स्थिति, संहार आदि उसी की सत्ता से सम्पन्न होते हैं।[14] जब भी हम निर्गुण ब्रह्म के विषय में कुछ कहते हैं, तो वह उससे उपहित हो जाता है। अतः सगुण ब्रह्म के विषय में ही समस्त व्यापार होते हैं। निर्गुण शब्द से तात्पर्य है आनुभविक जगत् से अतीत, क्योंकि गुण तो प्रकृतिजन्य ही होते हैं और विकारशील विषय की ही विशेषता बतलाते हैं। ब्रह्म निरपेक्ष होने से श्रेष्ठ है और सतत विद्यमान रहता है। असत्, अचित् एवं दुःखरूप न होने से वह सत्, चित् एवं आनन्दरूप है। चैतन्यरूप होने से स्वयंप्रकाश, सतत प्रबुद्ध और पूर्णकाम होने से आनन्दघन है। वह नामरूप आदि से रहित एक ही अद्वितीय निरपेक्ष स्वतन्त्र, शुद्ध तथा अतीन्द्रिय सत्ता है।[15] वह कर्ता नहीं है अतः निष्क्रिय है।[16] माया उसकी शक्ति है, तथापि वह उससे लिप्त नहीं होता एवं अंशों से रहित, अव्यक्त तेज, विभु, अव्ययरूप है।[17] सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही

9. द्रष्टव्य बृहद० उप० 2 ।4। 12
10. "सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धि - आत्मा च ब्रह्म।" -शां० भा० 1-1, 1
11. "अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्त - सर्वशक्तिसमन्वितम्"। -शां० भा० 1-1, 1
12. "वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो न अभावाभिप्रायेणाभिधीयते।" -शां० भा० 3 ।2। 22
13. "लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्।" -व्यास वचन
14. "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते - तद् ब्रह्मेति।" तै० उप० 3 ।1।
15. "एकमेवाद्वितीयं सत् - तादृक्त्वं तदितीर्यते।" पं० द० 5 ।5।
16. "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। - अनलम्।" -श्वेत० उप० 6-19
17. "निरस्तमायाकृतसर्वभेदं नित्यं विभुं निष्कलमप्रमेयम्।" -वि० चू० 240, पृ० 81

विवर्त है। जिस प्रकार मृत्तिका से बने बर्त्तन में केवलमात्र नाम के ही भेद हैं और मृत्तिका ही सत्य है, उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है।[18] सृष्टि के पूर्व एवं बाद में भी केवल उसी का अस्तित्व है।[19] जैसे धधकती हुई अग्नि से चारों ओर चिंगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है।[20] वही एक आत्मा के रूप में सब जीवों में व्याप्त है।[21] माया से युक्त होकर यही निर्गुण ब्रह्म सगुण परमेश्वर कहलाता है। अविद्या ही के कारण ब्रह्म एक ओर से जीव के रूप में, प्रपञ्चयुक्त जगत् के रूप में दूसरी ओर से तथा तीसरी ओर से इन दोनों को नियम में रखते हुए चलाने वाले ईश्वर के रूप में भेद से भासता है।[22] अनन्त रहस्यों एवं जीवों से परिपूर्ण जगत् का नियमन सामान्यज्ञान सापेक्ष नहीं है, इसीलिए उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वविद्, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी आदि माना जाता है। इन सब अविद्या की उपाधियों के निराकृत होने पर केवल चित्‌रूप में ही भासता है।[23] तात्पर्य यह है कि माया के कारण ही ब्रह्म जगत् के रूप में भासता है। ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान के अनन्तर जगत् बाधित हो जाता है और अविद्याजनित कष्टों की शान्ति हो जाती है।[24] ब्रह्म के तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण– दो व्यावहारिक और पारमार्थिक रूप माने गये हैं, जो सर्वशक्तिमान् सगुण एवं अविकारी सत्ता निर्गुण के प्रतीक हैं। ब्रह्म के इस प्रकार सगुण ब्रह्म, विश्व तथा विविध एवं अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होने के लिए श्वासोच्छ्वास आदि की सहज प्रक्रिया की तरह लोक–लीला ही कारण है।[25] वह सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[26]

---

18. "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" –छां० उप० 6 ।1–4
19. "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्–एकोऽहं बहुस्याम्" –तदेव 6 ।2। ।1। 4
20. "तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।।" –मुण्ड० उप० 2–1–1
21. श्वेत० उप० 6–11
22. चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा। तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्।। –पं० द० 3–40
23. तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतोऽविद्यापास्त – उपपद्यते।" –शां० भा० 2 ।1। 14
24. "ज्ञात्वा देवं सर्वपाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।" –श्वेत० उप० 1 ।11
25. "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।" –ब्र० सू० 33 तथा शां० भा० 2 ।1।33
26. "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म।" –तै० उप० 2–1–2

आत्मा भी ब्रह्म ही है।[27] प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा के सम्बन्ध में जानकारी रखता है तथा ऐसा कभी नहीं सोचता कि मैं नहीं हूँ।[28] बोधशक्ति एवं उससे सम्पन्न होने वाले व्यापारों की विद्यमानता से ही एक ज्ञानवान् सत्ता की पूर्वकल्पना होती है– वह ही आत्मा है। इसके प्रकाश से ही सब प्रकाशित होते हैं। इसके अस्तित्व के अभाव में शून्य की ही परिकल्पना होती है। यह दूसरों से प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं ज्योतिस्वरूप है।[29] प्रत्येक व्यापार, क्षमता, कारण–सूक्ष्म, स्थूल शरीर, जीवनीशक्ति प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण एवं आनुभविक 'अहं' केवल आत्मा के ही आधार पर तथा उसी के उपलक्ष्य में आभासित होते हैं। अतः वे सब किसी लक्ष्य की पूर्ति करने के लिए व्यवस्थित होते हैं, जिनकी अवस्थिति उस पर ही अवलम्बित होती है। आत्मा स्वयं सिद्ध है, किसी प्रमाण आदि से इसका बोध नहीं हो सकता। वे तो स्वयं इस पर ही निर्भर होते हैं।[30] जो इसका निषेध करता है, यह उसका अनिवार्य स्वरूप है।[31] इसका अस्तित्व तो साक्षात् अनुभव से सर्वविदित है।[32] आत्मा तो निर्विशेष चैतन्य है, परन्तु अज्ञान से व्यक्ति पुत्रभार्यादि सब के दुःखी होने पर अपने को ही दुःखी मानता है। इस तरह वह बाह्य धर्मों कोअपने पर आरोपित करता है। इसी तरह "मैं मोटा हूँ", "गौर हूँ" आदि देह के धर्मों और 'मूक हूँ', 'बधिर हूँ' आदि इन्द्रियों के धर्मों तथा इच्छा, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों को भी आत्मा के साथ जोड़ देता है। इस प्रकार वह अहं प्रत्ययी 'अहं' को अन्तस्थ आत्मा में परिणत कर देता है, जो केवल शरीर सम्बन्धी प्रवृत्तियों का साक्षीमात्र है एवं इसके विपरीत सबका साक्षी है,

27. "आत्मा च ब्रह्म।" –शां० भा० 1-1-1
28. "सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति।" –तदेव
29. "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति।"
–श्वेत० उप० 6 ।14। तथा शां० भा० 1 ।3।22।
30. "आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यति।"
–शां० भा० 2,3,7 तथा भ० गी० शां० भा० 18 ।50
31. "य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।" –शां० भा० 2-3-7
32. "अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्माप्रसिद्धेः।" –शां० भा० 1 ।1।1।

अन्तस्थ आत्मा को अन्तःकरण आदि में परिणत कर देता है।[33] आत्मा इन सब में सदैव वर्तमान रहने वाला एक ही तत्त्व ज्ञान है। वह चाहे किसी भी रूप में आभासित हो – चैतन्य ही उसका वास्तविक धर्म है तथा इस ज्ञाता को ही विषय बनाकर कैसे और किसके द्वारा देखा जा सकता है ?[34] इसीलिए श्रुति 'नेति–नेति' कहकर चुप हो जाती है। आत्मा न कभी मरता है, न जन्म लेता है। वह त्रिकाल अबाधित, एक, नित्य, अद्वितीय एवं निर्विकार सत्ता है।[35] आत्मा आनन्दस्वरूप है और इसको ऐसा जानने वाला भी आनन्दस्वरूप ही हो जाता है। अतः आनन्दमय परब्रह्म ही आत्मा है।[36] यह सर्वान्तर्यामी है, स्वयं अदृष्ट होता हुआ भी सबका द्रष्टा, अश्रुत होता हुआ भी सब कुछ सुनने वाला, स्वयं अमत होता हुआ भी सबका मन्ता है, घट की भाँति विज्ञात न होता हुआ भी सबका ज्ञाता है।[37] आत्मा कर्तृत्वभोक्तृत्व से रहित है एवं कूटस्थ होने से निष्क्रिय है।[38] बुद्धि आदि उपाधियों से युक्त होने के कारण वह अपने को भोक्तादि समझने लगता है।[39] कर्तृत्व आदि अविद्या से ही प्रत्युपस्थापित हैं।[40] वह छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है।[41] वह विनाश के कारण के अभाव से अविनाशी, विकारहेतु के अभाव से कूटस्थ एवं नित्य है। अतएव वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है।[42] वह विश्व से भी अभिन्न ही है।[43]

---

33. "शां० भा० 1-1-1, तथा "न पृथिवी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौन वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धिमुक्तये।।" –अष्ट० व० सं० 1 ।2।
34. "विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात् ?" –बृहद० उप० 2 ।4। 14
35. "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।" –कठ० उप० 1-2-18
तथा भ० गी० 2-20
36. "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।" –तै० उप० 2 ।7। 2
37. "एष ते आत्मा सर्वान्तरः, सर्वान्तर्यामी, अमृत, अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतो श्रोता,
अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता, नान्यो अन्योऽस्ति द्रष्टा।" –बृहद० उप० 3-7-15 तः 23
38. शां० भा० 2-3, 40
39. "उपाधिसंपृक्तस्यैवात्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति।" –तदेव
40. "अविद्या प्रत्युपस्थापितत्वात् कर्तृभोक्तृत्वयोः।" –तदेव
41. "अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।"
–श्वेत० उप० 3-20
42. शां० भा० 1-1-4
43. "यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गा फेनबुद्बुदाः। आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्।"
–अष्ट० व० सं० 1-4
44. "परं चापरं च ब्रह्म।" –प्रश्न उप० 5-2 तथा कठ० उप० 1-2-16

ईश्वर

ब्रह्म जब विश्व सृष्टि के लिए अपनी माया शक्ति द्वारा उपहित हो जाता है, तो सगुण ब्रह्म या ईश्वर के नाम से सम्बोधित किया जाता है। एक को पर ब्रह्म तथा दूसरे को अपर ब्रह्म कहते हैं।[44] वास्तव में ब्रह्म के विषय में जितनी बातें की जाती हैं, वे सब ईश्वर के सम्बन्ध में ही होती हैं, क्योंकि परब्रह्म तो मन-वाणी आदि की पहुँच से परे होता है। अतः जिस क्षण हम 'अनुपहित' ब्रह्म के विषय में कुछ बोलते हैं, वह तत्क्षण उससे उपहित होकर ईश्वर बन जाता है। जैसे मिट्टी को विविध रूपों में परिवर्तित होने के लिए, कुम्हार (संचालक) की परमावश्यकता है, इसी तरह प्रकृति की प्रेरक भी बुद्धिसम्पन्न शक्ति ही हो सकती है।[45] संसार में विद्यमान व्यवस्था एवं रचना आदि संकेत करती हैं कि इसका संचालक कोई चैतन्यपूर्ण सत्ता है। एक ही मार्ग पर अग्रसर होने वाले सभी साधन भी ऐसा ही इंगित करते हैं।[46] यदि कोई व्यक्ति विशेष सृष्टिकर्ता होता, तो वह अपने अनुकूल ही विषय-प्रपञ्च रचता तथा जन्म, मरण, रोग, जरा आदि विरुद्ध प्रकृति की वस्तुओं को कभी न बनाता। कोई भी व्यक्ति अपने लिए बन्धनगार बनाकर उसमें स्वतः प्रवेश नहीं करना चाहता।[47] अतः अपूर्व, विश्वातीत, आकस्मिक घटना, परमाणु, प्रकृति आदि स्वतः विश्व रचना के लिए पर्याप्त नहीं हैं, प्रत्युत् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, सर्वव्यापक, चैतन्यस्वरूप ईश्वर ही जगत् का कारण है।[48] यह ईश्वर स्थावर और जंगम समस्त प्रपञ्चों का साक्षीमात्र है। संसाररूपी वृक्ष पर जीव और ईश्वर नामक दो पक्षियों ने आश्रय लिया है। जीव अपने राग-द्वेष से जनित कर्मफल भोगता है और ईश्वर तटस्थ रहकर देखता है।[49] जगत् का कारण होने पर भी ईश्वर केवल लीला के लिए ही प्रवृत्त होता है, जैसे आप्तकाम राजा क्रीड़ा-बिहार में विनोदमात्र के लिए तत्पर होता है।[50] जैसे एक ही पृथिवी अनेक प्रकार के पत्थरों को उत्पन्न करती है, जिनमें अमूल्य हीरे-जवाहरात भी हैं और सामान्य पत्थर भी हैं, इसी तरह एक ही ईश्वर से

---

5. शां॰ भा॰ 2-2, 1
6. तदेव 1-3-39
7. "नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारम् आत्मनः कृत्वानुप्रविशति।" -तदेव 2-1, 21
8. शां॰ भा॰ 2-1, 22
9. "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।" -मुण्ड॰ उप॰ 3-1, 1
0. शां॰ भा॰ 2-1, 33

नानाविध जीवों एवं कार्यों की सृष्टि होती है।[51] वह कुम्हार की तरह अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखता, प्रत्युत् अपनी अद्भुत शक्तियों के द्वारा वह अपने को अनेक कार्यरूपों में परिणत कर लेने में पूर्ण समर्थ है।[52] ईश्वर और सिद्ध ऋषिगण केवल तेज-बल से ही अनेक प्रकार की वस्तुओं का सृजन कर सकते हैं तथा इस कार्य के लिए किसी बाह्यसाधन की अपेक्षा नहीं रखते।[53] दूध के स्वतः दहीरूप में परिणत होने की तरह अनेक शक्तियों का स्रोत ईश्वर अपने को नानाविध जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है।[54] अतः वह सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, अव्यक्त, सर्वशक्तिमान् सृष्टि का कर्ता, पालक एवं संहर्ता है। निष्क्रिय ब्रह्म भी केवल माया के कारण सक्रिय हो जाता है। वह अभोक्ता, प्रेरक और आनन्दस्वरूप है, क्योंकि माया की सत्त्वोपाधि से युक्त है।[55] जीव और ईश्वर ब्रह्म के अनिर्वचनीय आभासमात्र हैं।[56] ईश्वर माया का स्वामी और जीव उस द्वारा पीड़ित होता है। सदानन्द ने सम्पूर्ण जीवगत अज्ञानों से उपहित चैतन्य को ही ईश्वर माना है, जैसे वृक्षों के समूह को एकत्व से वन कहते हैं।[57]

जीव

आत्मा आकाश की भाँति नित्य, विभु एवं सर्वव्यापक है। वही इन्द्रिय मन अहंकार तथा शरीर आदि की उपाधियों से घिरा हुआ एवं पृथक्-पृथक् किया हुआ जीव नाम से अभिहित होता है। अतः घटपटाकाशादि की तरह एक होने पर भी उपाधि भेद से विविध जीवों के रूप में प्रतीत होता है।[58] परन्तु जीवगत अविद्या के नष्ट होने पर पुनः अपने मूलरूप में भासित होने लगता है।[59] आत्मा कर्तृत्व युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से उसकी मुक्ति असम्भव होती है।[60] कर्तृत्व सदैव दुःख

---

51. शां० भा० 2-1, 23 तथा "तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूता।" -मुण्ड० उप० 2-1-
52. शां० भा० 2-1, 24
53. शां० भा० 2-1, 25, 31
54. क्षीरवत् द्रव्यस्वभावविशेषात्। -शां० भा० 2-1, 24 तथा 2-1, 30
55. वे० सा० पृ० 18, 31
56. "मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतोमायी महेश्वरः। अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि।।" -पं० द० 6 -157
57. वे० स०, पृ० 31
58. शां० भा० 1-2, 6 तथा 2-3, 17
59. "परमब्रह्म - अपहतपाप्मत्वादिधर्मकं तदेव जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपं - नेतरद् उपाधिकल्पितम्।" -शां० भा० 1-3, 19

होता है। आत्मा का कर्तृत्व केवल ऐसे गुणों की उपाधियों के ही आश्रित है, जो इसके साथ लगी हुई हैं, किन्तु इसके अपने स्वरूप के ऊपर आश्रित नहीं है।[61] जीव ही कर्ता-भोक्ता होने से शुभाशुभ कर्म करता है और संसृतिचक्र में पड़कर फल भोगता है। अतः मोक्ष और बन्धन इसी के होते हैं। यद्यपि चिदानन्दमय आत्मा होने के कारण यह अमर, अजर आदिं ही है, तथापि वासनाओं से भरे कर्मों के करने से उनका फल भोगने के लिए इसका दूसरा शरीर ग्रहण करना मृत्यु समझा जाता है। वास्तव में अन्तःकरण आदि उपाधियों का जन्म ही जीव की उत्पत्ति मानी जाती है, क्योंकि जब आश्रित वस्तुयें उत्पन्न होती हैं या विलय होती हैं तो यह कहा जाता है कि आत्मा पैदा हुई या विनष्ट हुई।[62] जीव शरीर तथा इन्द्रियों के ऊपर शासन करता है। इसका सारतत्त्व आत्मा ही है, अतः यह भी विभु या व्यापक होता है, अणुरूप नहीं। यदि यह अणुरूप होता, तो शरीर के सब भागों से आने वाले संवेदनों का इसे अनुभव नहीं हो सकता था।[63] अतः जीव और आत्मा का अन्तर व्यावहारिकमात्र है, पारमार्थिकरूप से नहीं। वास्तव में सब की हृदय-गुहा में एक ईश्वर ही स्थित होकर अपनी मायाशक्ति से सब जीवों को यन्त्रवत् नचा रहे हैं और वे जीव भी उसी का रूप हैं, अन्य नहीं।[64] इस आत्मा को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से परे माना गया है, केवल उपाधियों के कारण ही 'शारीर' नाम से अभिहित होता है।[65] परन्तु यथार्थ में यह शुद्ध चैतन्य ही है। आत्मा नित्य, स्वतन्त्र, विशुद्ध चैतन्य, निरपेक्षरूप से एक ऐसी वस्तु है, जो स्वयं में चुम्बक की तरह गतिरहित होते हुए भी अन्य वस्तुओं में गति उत्पन्न कर सकती है।[66] जहाँ ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है, वहाँ जीव अज्ञानी, स्थूल आकृति एवं दुर्बल है। वह प्रभु जो निरतिशयोपाधियुक्त है,

---

"न स्वाभाविकं कर्तृत्वम् आत्मनः सम्भवति अनिर्मोक्षप्रसंगात्" –शां० भा० 2-3, 40
"तस्माद् उपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम्।" –तदेव
शां० भा० 2-3, 17
तदेव 2-3, 29
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया
तथा क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। –भ० गी० 18-61, 13-2
शां० भा० 1-2, 6, "पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धयाद्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते," तथा भ० गी० 3-42, कठ० उप० 1-3, 10
शां० भा० 2-2, 2

जीवात्माओं के ऊपर हीनतर प्रतिबन्धक सहायकों के साथ शासन करता है।[67] दोनों में स्वामी-सेवक सम्बन्ध है और विशुद्ध चैतन्य समान ही है। जैसे ऊष्मा अग्नि और स्फुलिंग दोनों में समान रहती है।[68] सदानन्द भी वेदान्तसार में तप्तायः की तरह दोनों की ब्रह्म से एकता मानते हैं।[69] दोनों में ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता है, अतः जीव भी पूर्ण ब्रह्म ही है।[70] परमहंस श्री रामकृष्ण कहते हैं जिस प्रकार विष साँप में रहते हुए भी उस पर कोई प्रभाव नहीं डालता है, उसी तरह माया ईश्वर की है तथा इसके सदा विद्यमान रहने पर भी वे कभी मायाबद्ध नहीं होते।[71] परन्तु आत्मा और अनात्मा में भेद न कर सकने के कारण जीव कष्ट भोगते हैं। सदानन्द ने मलिनसत्त्व प्रधान अज्ञान की व्यष्टि उपाधि से उपहित चैतन्य को जीव माना है और उसमें अल्पज्ञता आदि गुण माने हैं।[72]

माया

माया एक ऐसे तत्त्व को माना गया है, जो अपरिमित को परिमित में परिणत कर देती है और रूप रहित में रूप की सृष्टि करती है।[73] जैसे रस्सी साँप के समान प्रतीत होती है, वैसे ही एकमात्र सद्वस्तु ब्रह्म का नानाविध जगत् के रूप में भासित होना माया ही है।[74] नामरूपात्मक जगत् इसी माया में सूक्ष्मरूप से स्थित है। अतः यह जगत् की बीजशक्ति होने से अव्यक्त कही गई है। यह सांख्य के प्रधान की भाँति ईश्वर से स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु अर्थवती ही मानी गई है, क्योंकि इसके बिना ईश्वर का स्रष्टृत्व सिद्ध नहीं होता है।[75] निर्गुण ब्रह्म इसी माया से उपहित होने पर सगुण ब्रह्म या ईश्वर नाम से अभिहित होता है। ईश्वर सृष्टि के लिए माया पर ही

---

67. शां० भा० 2-3, 45
68. "चैतन्यं च अविशिष्टं जीवेश्वरयोः यथा अग्निविस्फुलिंगयोः औष्णयम्।" -वे० सा० पृ० 29
69. वे० सा०, पृ० 27
70. यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, ऽवस्तुत्वात्, एवम् परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। -शां० भा० 2-1, 9
71. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, द्वितीय खण्ड, द्वि० सं०, पृ० 383
72. वे० सा०, पृ० 19
73. शां० भा० 1-3, 19
74. तदेव 2-1, 9
75. "अर्थवतीहि सा। न हि तया बिना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति, शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्तयनुपपत्तेः।" -शां० भा० 1-4, 3 तथा 1-2, 22

आश्रित है एवं जगत् रचना की विद्यमानता पर ही ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, ईश्वरत्व आदि गुण अवलम्बित हैं। इसके विपरीत शासन की कल्पना भी नहीं हो सकती है।[76] एक ही ब्रह्म माया के कारण अनेक रूपों में अवभासित होता है।[77] वास्तव में इसका केवल निषेधात्मक ही नहीं, प्रत्युत् भावात्मक रूप भी है। सीमितता एक सच्चाई है,[78] क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी भावना रहती है कि वह सब कुछ नहीं जानता।[79] यह वन्ध्यापुत्र की तरह अभावात्मक सत्ता नहीं है, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है और प्रत्येक को इसका अनुभव होता है। यह एक यथार्थ, निरपेक्ष सत्तारूप वस्तु भी नहीं, क्योंकि सम्यक् विवेक से इसका नाश होता है। परन्तु यदि यह असत् होती, तो किसी वस्तु को उत्पन्न न कर सकती एवं सत् होती, तो जो इससे उत्पन्न होता है, वह भी आभासमात्र न होकर यथार्थ होता। अतः अव्याख्येय होने से अनिर्वचनीय है।[80] इसके आदि का पता नहीं, इसकी सत्ता का पता इसके कार्यों से चलता है। भगवान् की अव्यक्त शक्ति एवं सत्त्व, रजस् तमस् गुणों से युक्त है। यही इस जगत् को उत्पन्न करती है।[81] सदानन्द ने भी इसे अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञान विरोधी, भावरूप यत्किञ्चित् माना है और इसके एकरूप होते हुए भी विभिन्न रूप धारण करने की शक्ति को माना है।[82] इसकी आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियों का भी उल्लेख किया जाता है, जिनसे यह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को छुपाकर भेद बुद्धि उपजाकर नानात्व प्रदर्शित करती है।[83] इस प्रकार माया अपने स्वरूप में छली है, निश्चित् रूप से भ्रान्ति स्वभाव की है। जब इसका सम्बन्ध ब्रह्म के साथ होता है, तो वह जीवादि हो जाता है।[84] यह ईश्वर में ही रहती है, जैसे उष्णता अग्नि

---

76. शां० भा० 2-1, 14
77. "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश।" –ऋ० वे० म० 6-47, 18
78. "अहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्।" –वे० सा० पृ० 14
79. "अहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्।" –वे० सा० पृ० 14
80. वि० चूडा०, 111, पृ० 35
81. "अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या। कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।" –वि० चूड़ा० 110, पृ० 35
82,83 "अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ:...... ......आवरणविक्षेपशक्तिद्वययुतौ।" –वे० सा०, पृ० 14 तः 29
84. "परमात्माद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया। स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः।" –पं० द० 10 ।1
85. "निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।" –तदेव 2 ।47

में रहती है।[85] यह प्रकृति की पर्यायवाची है, क्योंकि यह नाम और रूप के समान है, जो अपनी सूक्ष्मदशा में ईश्वर के अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और विकसित दशा में विश्व की रचना करते हैं।[86] विश्व की योनि होने से प्रकृति ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्म ही जगत् का कारण माना जाता है।[87] समस्त जगत् का नाटक माया पर ही आधारित है। मायावी ईश्वर अपनी लीला के लिए प्रकृति (माया) के माध्यम से नानाविध भूमिकायें प्रदर्शित करता है।[88] माया की व्यावहारिक सत्ता मानी गई है।

बन्ध-मोक्ष

वेदान्त दर्शन में बन्ध और मोक्ष अपने यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में अनभिज्ञता एवं अभिज्ञता का ही नाम है। परमार्थ सत्ता की प्राप्ति केवल मात्र अविद्या का निवारण ही है, जिसे मोक्ष कहा गया है।[89] ब्रह्म का ज्ञान किसी ऐसी नव वस्तु को उपलब्ध करना नहीं है, जो अप्राप्त थी, प्रत्युत् अपने इस सत्यस्वरूप को पहचान लेना है, जिसको पहले हम कुछ और ही समझते थे।[90] अविद्या का नाश हो जाने पर विद्या स्वयं प्रकाश देती है।[91] जैसे एक 'रस्सी के खण्ड का उस समय यथार्थ ज्ञान हो जाता है जब उसके प्रति यह साँप है' ऐसा मिथ्या विचार खण्डित हो जाता है।[92] ब्रह्म-प्राप्ति का कथन इस तरह केवल उपचारमात्र से प्रयुक्त है। जैसे स्फटिक-मणि रक्त-पुष्प के सान्निध्य से लाल प्रतीत होने लगती है, उसी प्रकार आत्मा अज्ञान से जीव रूप में दिखाई देता है। जैसे एक ही सूर्य घट-पट भेदों से अनेक प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही एक ब्रह्म विविध उपाधियों के कारण अनेक जीवों के रूप में प्रतिभासित होता है। माया की शक्तियाँ बड़ी प्रबल हैं। विशुद्ध अद्वयात्मा को आवरण शक्ति उसी प्रकार जीव के ज्ञान चक्षुओं से ढक लेती है, जैसे राहु निर्मल तेजोमय सूर्य को।[93] इस तरह स्व-स्वरूप को भूल जाने से आत्मा के तिरोहित-सा होने पर व्यक्ति अनात्म शरीर को ही

---

86. "ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिः।" –शां० भा० 2-1, 14
87. "प्रकृतिर्ब्रह्म।" –शां० भा० 1-4, 27
88. "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।" –श्वेत० उप० 4 ।10
89. "स्वात्मन्यवस्थानम्।" –शां० मा० 4-4, 1-3
90. शां० भा० 3-2, 21
91. तदेव 2-1, 14
92. तदेव 1-3, 19
93. "अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या – तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम्।" –वि० चू० 141, पृ० 46

आसक्ति से 'मैं हूँ' ऐसा समझने लगता है। उस समय रजोगुण की प्रबल विक्षेप शक्ति अपने काम-क्रोधादि बाँधने वाले गुणों से इसको व्यथित करने लगती है, [94] जिससे अध्यास प्रकट हो जाने पर, अद्वितीय ब्रह्मरूप सकल प्रपञ्च को नानात्व से देखकर भ्रान्त हो जाता है। इस प्रकार मिथ्याज्ञान की श्रृँखला में जकड़ जाने से पूर्णतया बद्ध हो जाता है [95] और संसृति-चक्र में घूमता रहता है। मोक्ष प्राप्ति से तात्पर्य जगत् के विनष्ट हो जाने का नहीं है, जैसे कि घी को अग्नि के ऊपर रखकर उसके कठोरत्व का विनाश किया जाता है। [96] यदि मोक्ष से तात्पर्य जगत् के नानात्व का विनाश हो, तब पहले-पहल जब किसी एक व्यक्ति ने मोक्ष प्राप्त किया होगा, तभी जगत् को विनष्ट हो जाना चाहिए था। [97] अतः सत्य प्राप्ति से अभिप्राय अनेकत्व का विनाश नहीं, प्रत्युत् केवलमात्र अनेकत्व के भाव का अभाव है। [98] जगत् केवल भ्रान्तिमय है— इसका तात्पर्य यह है कि यह आनुभविक जगत्, आत्मा, वस्तुएँ एवं ईश्वरादि भेदों सहित ऐसे व्यक्ति के लिए, जो बाह्य तथा आत्मा के एकत्व को जान जाता है, [99] विलुप्त हो जाता है। अर्थात् हमारी सीमित अन्तर्दृष्टि को जगत् जिस रूप में प्रतीत होता है, वह रूप आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व को जानकर परिवर्तित हो जाता है। [100] यह साक्षात् ब्रह्मरूप ही है। इस तरह सर्वात्मभाव प्राप्ति ही मोक्ष है। [101] इस दशा में वैयक्तिक चेतना (विशेष-विज्ञान) लुप्त होती है, समस्त चैतन्य नहीं। आत्मा का विशुद्ध सारतत्त्व (विज्ञानघनात्मा) विद्यमान रहता है। [102] अतः केवल मोक्ष में प्रतिबन्ध पैदा करने वाले सहायक समाप्त हो जाते हैं, परन्तु स्वयं आत्मा विनष्ट नहीं होती है। [103] यह मुक्ति कर्मजन्य नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व आदि

---

94. "तिरोभूते स्वातमन्यम् – रजसउरुशक्तिर्व्यथयति।" –वि० चू० 142, पृ० 46-47
95. "अन्वयव्यतिरेकाभ्यां – सुखदुःखेऽस्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम्।" –पं० द० 4 132
96. शां० भा० 3-2, 21, तथा बृहद्० उप० 4-5, 13
97. "एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगत् अभविष्त्।" –शां० भा० 3-2, 21
98. "अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् बुद्धवा ब्रह्माद्वयं बोद्धं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः।" –पं० द० 4-40, 41
99. "गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात्" –शां० भा० 1-2, 6
100. शां० भा० 1-2, 12 तथा 1-2, 20
101. "स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वम् एव।" –शां० भा० तै० उप० 2-1
102. शां० भा० 1-4, 22 तथा बृहद० उप० 4-3, 30
103. उपाधिप्रलयमेवायं नात्मप्रलयम्।" –शां० भा० 2-1, 14

द्वैत में ही सम्भव है और द्वैत के दर्शन में वह असम्भव है। अतः काम्य और निषिद्ध कर्मों को छोड़कर ही व्यक्ति इसका अधिकारी बनता है। कर्मों का मूल काम है और ब्रह्मविद्या ही मंगलकारी है अर्थात् निष्कामभाव से ज्ञानपूर्वक किया जाने वाला कर्म फलहेतु न बनकर मुक्ति दिलाने वाला ही होता है।[104] परन्तु नैतिक गुणों को चित्तशुद्धि के लिए मूल कारण माना गया है। सदानन्द ने भी वेदान्तसार में ऐसा ही मत निरूपित किया है।[105] श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि आदि मोक्ष प्राप्ति के सहायक साधन बतलाये गये हैं। सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से समाधि दो प्रकार की है। दूसरी में ज्ञाता- ज्ञेय का द्वैत नहीं रहता। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सविकल्पक समाधि आदि इसके अंग बतलाये गये हैं।[106]

जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति में प्रथम से प्राणी की बुद्धि तत्त्व में निष्ठा प्राप्त कर लेती है। संसार के कर्तृत्वादि समस्त बन्धनों से छुटकारा हो जाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी अवस्था वाले व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहते हैं।[107] अतः जिसकी बुद्धि स्थिर हो जाये निरन्तर आनन्द का अनुभव करे एवं प्रमेय-प्रपञ्च विस्मृत प्रायः हो जाये, वही जीवन्मुक्त होता है। जरामरण शरीर के धर्म, क्षुत्पिपासा प्राण के धर्म और शोक, मोह सभी से छुटकारा पाकर वह शरीर रहते ही मुक्त होता है। जिस प्रकार मिट्टी का पात्र बन जाने पर भी कुम्हार का चक्र कुछ समय तक चलता रहता है, ठीक इसी प्रकार मोक्ष के बाद जीवन बना रहता है। पहले से जो इसने गति प्राप्त कर ली है, उसे रोकने का कोई कारण उसके अन्दर नहीं होता।[108] विदेह मुक्ति शरीर के समाप्त होने पर प्राप्त होती है। संचित एवं क्रियमाण तो ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं, परन्तु प्रारब्ध भी भोग से नष्ट होकर शरीर पतन कर देता है। तब वह ब्रह्मभाव से ब्रह्म ही हो जाता है।[109] संशयों और कामनाओं के क्षीण

---

104. शां० भा० 3-1, 4 तथा भ० गी० 2-38, 71 और तै० उप० 7-2, 2
105. वे० सा० पृ० 3
106. वे० सा० पृ० 89 तः 97
107. "जहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।" -भा० गी० 2-54
108. शां० भा० 4-1, 15 तथा "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।" -छां० उप० 6-14, 2
109. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। मुण्ड० उप० 3-2, 9 तथा बृहद्० उप० 4-4, 25
110. मु० उप० 2-2, 8

होने से यह आनन्द की भावरूप दशा ही होती है।[110] विविध पुष्पों से लाये हुए मधु की तरह ब्रह्म के आनन्द में मिलकर एक हो जाता है।[111] ऐसा ही वेदान्तसार में कहा गया है।[112]

सृष्टि प्रक्रिया

यह पहले कहा जा चुका है कि ईश्वर किसी प्रयोजन की अपेक्षा से जगत् रचना नहीं करता है, प्रत्युत् आप्तकाम राजा की जलादि विनोदार्थ क्रीड़ा की तरह लीलामात्र के लिए सृष्टि करता है। जैसे प्राणी के तनु में प्रश्वसन और निश्वसन क्रिया स्वत: होती रहती है, उसी प्रकार इसका उदय और विलय चलता रहता है।[113] चेतन जीव के शरीर में केश एवं नख इत्यादि की स्वाभाविक उत्पत्ति की तरह अविनाशी ब्रह्म से विश्व का विकास होता रहता है।[114] प्रत्येक दृश्यमान् प्रमेय आदि यथार्थता के स्वरूप को अभिव्यक्त करता है, क्योंकि यथार्थसत्ता ही उसका मूल कारण है।[115] जिस तरह प्राणियों की श्रेणी में जो ऊपर मानव से लेकर नीचे घास की पत्ती तक में क्रमश: ज्ञान एवं शक्ति आदि गुण कम होते देखे जाते हैं, इसी तरह ऊपर की श्रृँखला में भी नीचे की ओर मनुष्य से लेकर ऊपर हिरण्यगर्भ की ओर क्रमश: ज्ञान तथा शक्ति इत्यादि की बढ़ती हुई अभिव्यक्ति देखी जाती है।[116] इस भौतिक जगत् को 'क्षेत्र' कहा गया है, चूँकि इसमें जीवात्मायें कर्म कर सकतीं एवं अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सकती हैं और अपने पूर्वकर्मों के फलों को भोगती हैं। यह सृष्टि एवं कर्म-परम्परा अनादि है और नित्य चलती रहती है, परन्तु इसकी वैषम्यता में ईश्वर कारण नहीं है। अनादि कर्मों से प्रेरित होकर वह तत्-तत् प्रमाता-प्रमेय-प्रपञ्च आदि की रचना करता है।[117] शंकराचार्य ने सृष्टि की प्रक्रिया को उपनिषदों के अनुसार ही निरूपित किया है अर्थात् ब्रह्म से ही आकाशादि तत्त्वों की उत्पत्ति मानी है[118] तथा उत्तरोत्तर तत्त्वों की रचना पूर्व-पूर्व तत्त्वों के मिश्रण आदि से मानी है।[119]

---

111. "यथा सौम्य मधु मधुकृतो – न विदु: सम्पद्यामहे इति।" –छां० उप० 6-9, 1-3
112. वे० सा० पृ० 105
113. शां० भा० 2-1, 33
114. मुण्ड० उप० 1-1-7,
115. शां० भा० 1-1, 11
116. तदेव 1-3, 30
117. "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति।" ब्र० सू० 2-1, 34
118. "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:। आकाशाद्वायु:। वायोरग्नि अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी।" –तै० उप० 2-1, 3
119. विशेष : सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण 'वेदान्तसार में सामग्री' भाग के अन्तर्गत सृष्टि-प्रक्रिया में किया गया है।

तृतीय अध्याय

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में सामग्री

आनन्द-प्राप्ति एवं दु:ख से निवृत्ति सभी जीवों की सहज, शाश्वत अभीप्सित वस्तु है और स्पष्ट शब्दों में कहें तो जीवन के सभी संघर्ष अन्ततोगत्वा परमशान्ति को प्राप्त करने के लिए ही हैं। इसकी प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के कारण ही अनेक मतों का प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु लक्ष्य सभी का एक ही है। काश्मीर क्षेत्र के अन्तर्गत जिस अद्वैतवादी शैव दर्शन का विकास हुआ, उस दर्शन के विभिन्न नामों में से एक प्रसिद्ध नाम 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' है,[1] क्योंकि इस दर्शन में मोक्ष का रहस्य अपने स्वरूप की पहचान है, जो शिव ही है। इस दर्शन का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' है, जो उत्पलाचार्य द्वारा प्रणीत है। वे सोमानन्द के परमविद्वान् शिष्य थे। उत्पलाचार्य के पुत्र व शिष्य लक्ष्मणगुप्त का सर्वविद्याविशारद एवं ब्रह्मनिष्ठ शिष्य अभिनवगुप्त हुआ, जिसका इस दर्शन को महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्हीं के 'पादपद्मोपजीविन' प्रकाण्ड विद्वान् शिष्य राजानक क्षेमराज हुए हैं,[2] जिन्होंने काश्मीर शैव दर्शन को अनेक अमूल्य ग्रन्थ रत्नों से भर कर, एक ओर इसके सिद्धान्तों को स्पष्ट किया, दूसरीओर उसका नाम ऊँचा करके जगत् कल्याण किया है। इन्हीं अनर्घ्यरत्नों में से एक समुज्ज्वल 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' है, जिसमें समस्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सार दिया गया है, जिससे सबकी भलाई हो सके।[3] 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' ग्रन्थ का इस दर्शन में वही स्थान है, जो वेदान्त दर्शन में सदानन्द द्वारा रचित 'वेदान्तसार' का है।[4] इस ग्रन्थ में प्रत्यभिज्ञा के विवादास्पद विवरणों को

1. माध्वाचार्य ने अपने सर्वदर्शन-संग्रह ग्रन्थ में इस दर्शन को इसी नाम से कहा है।
2. "कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविन: श्रीमतो राजानकक्षेमराजाचार्यस्य।" –प्र० हृ० पृ० 100 (शारदा-तिलक टीका में भी)
3. "शाङ्करोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधे:। क्षेमेणोद्धियते सार: संसारविषशान्तये। –प्र० हृ० पृ० 19
4. प्र० हृ० भूमिका, पृ० 5

छोड़कर, उसके सिद्धान्तों का बहुत संक्षिप्तरूप से कुशलतापूर्वक प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही क्षेमराज कहते हैं कि इस जगत् में कुछ ऐसे भक्तलोग हैं, जो सुकुमार बुद्धि के हैं एवं बौद्धिक विकास न होने से तर्क नहीं समझ सकते, किन्तु जो शक्तिपात से सुलभ होने वाले परमेश्वर के साथ समावेश को चाहते हैं, उनके लिए ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा में जो उपदेश दिया गया है, उनके तत्त्व को थोड़ा-सा स्पष्ट किया जा रहा है।[5] तात्पर्य यह है कि इसमें कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित करना उनका लक्ष्य नहीं है, अपितु गुरुवरों के ज्ञान को ही सर्व-सुलभ बनाने के लिए सरल, सुबोध शैली के रूप में प्रस्तुत किया है। यद्यपि उत्पलाचार्य की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है, परन्तु तर्क-प्रधानता के कारण स्थूल बुद्धि वाले नहीं समझ सकते। इसीलिए अभीप्सित लक्ष्य से सम्बन्धित तत्त्वों को ग्रहण कर उन्हें सरल सुखसाध्य इस लघु ग्रन्थ के रूप में बीस सूत्रों में प्रस्तुत किया है तथा और स्पष्टता के लिए भाष्य भी स्वयं ही लिखा है। इसमें पति, पशु, पाश एवं विश्व-लीला का सुन्दर निदर्शन है और परमशिव से अभिन्नरूप पराशक्ति, उसकी अवान्तर शक्तियाँ एवं बन्धन-मोक्ष में उनका योगदान भी निरूपित है। मुख्य उपदेश यही है कि शिव से आरम्भ और उसी में विलीन होने से सब कुछ शिव ही है।[6]

क्षेमराज का समय दशवीं शताब्दी माना जाता है, क्योंकि राजतरंगिणी (1148, कल्हणकृत) के विवरण एवं अन्य साक्ष्यों अनुसार अभिनवगुप्त का समय दशवीं शताब्दी का आरम्भिक काल माना जाता है। इनके सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं मिलती। इनका प्रसिद्ध कार्य शिवसूत्र विमर्शिनी है। इनकी अन्य मुख्य रचनायें स्पन्द सन्दोह, स्पन्द निर्णय, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रोद्योत, विज्ञानभैरवोद्योत, शिवसूत्रवृत्ति, स्तवचिन्तामणि टीका, परा-प्रावेशिका, तत्त्वसन्दोह, उत्पलस्तोत्रावलीटीका,[7] परमार्थ-संग्रह विवृति, भैरवानुकरणस्तोत्र, वर्ण-उदय, शिव-स्तोत्र, साम्बपञ्चाशिका विवरण, स्पन्द निलय, स्वच्छन्द-नय, महार्थ-मञ्जरी टीका।[8] प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में निम्नलिखित सामग्री प्रस्तुत है :-

---

5. "इह ये सुकुमारमतयो -- तेषामीश्वरप्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनाक् उन्मीलयते।" -पृ० हृ० पृ० 20
6. "शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वाच्च शिवमयमेव इति शिवम्।" -तदेव, पृ० 99
7. यहाँ नक काश्मीर शैविज़्म, पृ० 35, नं० 1 के अनुसार
8. ये अफ्रेच्ट, सी० सी० अनुसार हैं। -प्र० हृ० भूमिका पृ० 11

पराचिति/परासंवित्/परमशिव की सर्वस्वता
(विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमयता)

सर्वत्र कारणता

सूर्य, चन्द्र, वन, सरिता, पर्वत एवं विशाल, सुन्दर आदि भूखण्ड को तरह-तरह के विचित्र विषयों से ओतप्रोत देखकर एवं विविध विशेषताओं से युक्त चराचर जीवों के प्रकृति व्यवहार को माला में सूत्र की तरह एक सुव्यवस्थित नियम में बँधा देखकर जिज्ञासा होती है कि यह समस्त किसका खेल है, इसके पीछे कोई यथार्थसत्ता है या स्वतः ही किन्हीं नियमों के समूह की उत्पत्ति है ? जगत् की इस समस्या को लगभग सभी मतावलम्बियों एवं दार्शनिकों ने उठा कर विविध प्रकार की सम्भावनाओं से सुलझाने का प्रयास किया है, परन्तु प्रायः सभी ने एक कल्पित वस्तु को आधार मानकर ही ऐसा किया है, जिससे समस्या "मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की" इस लोकोक्ति अनुसार उलझती ही गई। परन्तु यदि हम काश्मीर शैवदर्शन की शरण लें, तो इस खेल के पीछे हमें यथार्थसत्ता की स्वातन्त्र्य लीला का विलास मिलता है, जो अपनी इच्छा अनुसार ही समस्त नाटक को रचती है, खेलती है और अन्त में अपने में ही पर्यवसान कर लेती है।

क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कहा है कि – 'चिति विश्वसिद्धि के लिए स्वतन्त्र है।[9] यह चिति चिद्रूप होने से परासंविद् ही है, जिसे आत्मा कहा जाता है।[10] यह परमशिव से अभिन्न अनुत्तरविमर्शमयी शक्ति है, जो पूर्णतया स्वतन्त्र एवं पराशक्ति का ही रूप है। सदाशिव से लेकर पृथिवी तत्त्व तक सकल विश्व प्रपञ्च की सृष्टि स्थिति, एवं संहार इन्हीं द्वारा होता है।[11] वास्तव में इनके विकास से ही जगत् का उन्मेष, उसकी स्थिति एवं प्रसार से निवृत्त होने पर निमेष हो जाता है।[12] तात्पर्य यह है कि तत्-तद् अनन्त

---

9. "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।" –प्र० हृ० सू० 1, पृ० 20
10. (क) चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित्।" –तं० आ०, भा० 3, पृ० 404
    (ख) "चैतन्यमात्मा।" –शि० सू० 1-1
11. "विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य सिद्धौ –– पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः।" –प्र० हृ० पृ० 20-21
12. "अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।" –तदेव, पृ० 21

जगतात्मन्रूप से यह चिति भगवती ही स्फुरित होती है।[13] माया या प्रकृति विश्व की सृष्टि आदि स्वतः नहीं कर सकती, क्योंकि वह जड़ कही जाती है और जड़ कर्ता नहीं हो सकता, परतन्त्र होने से। यदि ऐसा कहें कि वे चेतन (प्रकाश) रूप ही हैं, तो चैतन्यता (प्रकाशता) की एकता से चैतन्यस्वरूप चिति ही ऐसी सामर्थ्यवाली होती है।[14] यह व्यापक, नित्योदित एवं परिपूर्णरूप है। देश, काल, रूप आदि एवं प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि इसी के अस्तित्व से प्रकाशित होते हैं, अतः इसका पार नहीं पा सकते। जैसे कोई दीपक से सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता।[15] यह तो पाँव से सिर की छाया लाँघने की तरह सर्वथा अलंघनीय है।[16] इसको 'स्वतन्त्रा' इसलिए कहते हैं, चूँकि यह विश्व की सृष्टि-स्थिति एवं पराद्वयसामरस्यापादनात्मक संहार को करने की अद्भुत क्षमता रखती है।[17] इसको ऐसा मान लेने से ही जीवन एवं उसके विषय-भोग आनन्दमय हो सकते हैं, क्योंकि यथार्थरूप का विस्मरण ही तो बन्धन का घर है। दूसरे, विश्व तो नील (बाह्य विषय), सुख (अन्तः विषय) देह, प्राणादि का ही नाम है और यह विमर्शरूप प्रमाता के आवेश से ही विकसित होता है।[18] अर्थात् परमशिव प्रकाश रूप हैं एवं विमर्श उसका स्वभाव है। प्रकाश रूप से तो वह शुद्ध चैतन्यरूप ही है और विमर्श रूप से आनन्दघनस्वरूप। उसी आनन्दघनस्वरूप चिति का ही सकल प्रपञ्च स्फार है।[19] ऐसा जान लेने से वह (विश्व) उसके परिज्ञान का हेतु हो जाता है। इसीलिए योगीजन सामान्य जनों की अपेक्षा इसमें (समस्त प्रपञ्च में) शिवभावना ही रखते हैं, जो आनन्द का मूल है।[20]

---

13. "चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगतात्मना स्फुरति।" -तदेव, पृ० 22
14. "अन्यस्य तु मायाप्रकृत्यादे -- चितिरेवहेतुः।" -तदेव, पृ० 21
15. "देशकालाकारा एतत्सृष्टा -- व्यापकनित्योदितपरिपूर्णरूपा।
प्रमातृप्रमाणप्रमेयस्य -- उपपन्नं वा।" -तदेव, 21-22-23
16. "स्वपदा स्वशिरच्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते। पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं बैन्दवी कला।" -त्रिकसार, प्र० हृ० पृ० 23
17. "इयं विश्वस्य सिद्धा -- च संहारे हेतुः तत एव स्वतन्त्रा।" प्र० हृ०, पृ० 23
18. "विश्वं नीलसुखदेहप्राणादि -- उपायो यस्याः।" -तदेव, पृ० 24
19. "सर्वं एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्तिस्फारः।" -तं० आ०, भा० 2, पृ० 201
20. "ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्। योगिनां तु विशेषोऽस्तिसंबन्धे सावधनता।" -वि० भट्टारक, श्लो० 106

विश्व का आधार

शैव सिद्धों के मत में चिति भगवती ही सृष्टि आदि का कारण है, तो जिज्ञासा होती है कि वह किसी की अपेक्षा से ऐसा करती है या स्वयं ही प्रवृत्त होती है ? उसे कुम्हार की तरह घटादि निर्माण हेतु मिट्टी, पानी चाक आदि उपादान कारणों की मदद लेनी पड़ती है या नहीं ? एवं वह यह विचित्र विश्व को किस आधार पर रचती है ? ऐसी जिज्ञासाओं के समाधान हेतु क्षेमराज कहते हैं कि– वह चिति भगवती अपनी ही इच्छा से अपने को ही आधार बनाकर विश्व की सृष्टि करती है।[21] तात्पर्य यह है कि ब्रह्मादि की भाँति परेच्छा से या वेदान्तवाद में निरूपित माया आदि की उसे कोई अपेक्षा नहीं होती, अपितु अपनी ही इच्छा से ऐसा करती है। चिति को विश्व रचना में उपादान आदि बाह्य साधनों पर भी निर्भर नहीं होना पड़ता। यदि ऐसी बात हो, तो वह स्वतन्त्र नहीं कही जा सकती और स्वतन्त्ररूप न होने से चैतन्यरूप नहीं हो सकती ? चूँकि यह चैतन्यरूप ही है, इसलिए ऐसी सम्भावना नहीं हो सकती। वह इस सृष्टि को अपनी ही भित्ति (आधार) पर करती है, न कि कहीं अन्यत्र।[22] दर्पण-नगर न्याय से विश्व को अभिन्न रूप से अपने में रखती हुई भी भिन्न की तरह प्रकट करती है।[23] अर्थात् जिस प्रकार दर्पण में नगर का प्रतिबिम्ब तादात्म्यभाव से रहता है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वह दर्पण के अतिरिक्त और कहीं है, इसी तरह विश्व इसमें तादात्म्यभाव से ठहरा हुआ होने पर भी पृथक्-सा दिखाई देता है। दर्पण में तो प्रतिबिम्ब किसी बाह्य वस्तु का ही पड़ता है, परन्तु इसमें इसकी अपनी शक्तियाँ ही विकसित होकर उल्टे क्रम में आभासित होती हैं। यह जगत् उसमें प्रकाशैकात्म्यभाव से रहता है, अतः कोई नव वस्तु उत्पन्न नहीं करती है, प्रत्युत् अपने में अवस्थित को ही आभासित करनामात्र है।[24]

विश्व का स्वरूप

प्रत्यभिज्ञानय के दृष्टिकोण से भगवती चिति ही अपने को ही आधार बनाकर सृष्टि करती है, परन्तु यह नहीं पता चला कि वह सृष्टि किस प्रकार की होती है ? या यदि शिव ही इन रूपों में परिणत हो जाता है तो यथार्थ सत्ता में कोई अन्तर आता

---

21. "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।" –प्र० हृ० सू० 2, पृ० 25
22. "स्वेच्छया न तु ब्रह्मादिवदन्येच्छया। तयैव च न तु –– अन्यत्र क्वापि।" –प्र० हृ० 25-26
23. "विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति।" –तदेव, पृ० 26
24. "उन्मीलनं च अवस्थितस्य प्रकटीकरणम् –– उक्तम्।" –तदेव

है या नहीं ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि– 'विश्व परस्पर अनुरूप ग्राह्य (प्रमेय) और ग्राहक (प्रमाता) के भेद से नाना प्रकार का है। [25] अर्थात् परस्पर उपयुक्त रूप में स्थित प्रमेय और प्रमाता के वैचित्र्य से ही विश्व विविध प्रकार का है। जिस प्रकार का प्रमाता होता है, उसी के अनुरूप प्रमेय का विधान है। ये प्रमाता सात श्रेणियों में विभक्त हैं और उनके अनन्तरूप हैं। उसी तरह इनके अनुकूल ही प्रमेय तत्त्व की छत्तीस श्रेणियाँ हैं, जिनके भी अवान्तर अनन्त भेद हैं। इस कारण विश्व नाना प्रकार का है। शिवशक्ति के विश्व लीला हेतु प्रथमाभास सदाशिवतत्त्व में परापर रूप विश्व प्रमेय होता है, जिसमें 'इदं' (विश्व) अस्पष्ट होता है और 'अहं' भाव का आच्छादन होता है– इसके अनुरूप ही 'मन्त्रमहेश्वर' प्रमातावर्ग होता है– जिनका अधिष्ठाता श्री सदाशिवभट्टारक होता है एवं इनकी इस प्रकार की अवस्थिति परमेश्वर की इच्छा से ही होती है। इसके नीचे ईश्वरतत्त्व में विश्व प्रमेय के 'अहं' और 'इदं' रूप समान रूप से स्फुट होते हैं, वैसे ही 'मन्त्रेश्वरवर्ग' प्रमाता होते हैं जिनको 'अहं' और 'इदं' समान रूप से स्पष्ट होता है। इनका अधिष्ठाता पूज्य ईश्वर होता है। तदनन्तर विद्यापद (शुद्ध विद्यातत्त्व) में भी जैसे भिन्न-भिन्न मन्त्र प्रमाता होते हैं, वैसा ही भेदसार वाला विश्व प्रमेय होता है। इन मन्त्रों की बहुत-सी शाखायें हैं तथा वे अन्यान्य भेद के कारण परस्पर भिन्न हैं और उनका अधिष्ठाता 'अनन्त भट्टारक' होता है। माया के ऊपर तथा शुद्धविद्या के नीचे जिस प्रकार 'विज्ञानाकल' प्रमाता हैं, जो कर्तृताशून्य हैं एवं केवल बोधरूप हैं, उसी प्रकार उनसे अभिन्न और पूर्व अवस्था से परिचित सकल और 'प्रलयाकल' उनके प्रमेय हैं। माया के स्तर पर 'शून्य प्रमाता' या 'प्रलय केवली' होते हैं, जिनके प्रमेय विषय शून्यप्राय होते हैं, जो कि उसकी अवस्था के अनुकूल ही होते हैं। 'प्रलयाकल' के बाद माया से लेकर पृथिवी तक 'सकल' प्रमाता अवस्थित होते हैं, जो परिमित स्वरूप वाले एवं सबसे भिन्न होते हैं। इस प्रकार ही इनका प्रमेय भी परिमित और भिन्न-भिन्न होता है। [26] 'मन्त्रमहेश्वर' से लेकर 'सकल' तक जो प्रमाता हैं, इन सबसे परे 'शिव प्रमाता' है– जिनका केवल प्रकाश ही रूप है एवं जिनकी सभी अवस्थायें भी प्रकाशरूप ही हैं। [27] विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दघन एवं सघन प्रकाशरूप पूज्य परमशिव की अवस्था में सब कुछ– शिव से लेकर पृथिवी तक– अभेदरूप से ही प्रकाशित होता

25. "तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्।" –तदेव सू० 3, पृ० 26
26. "तथा च सदाशिव तत्त्वे –– तथाभूतमेव प्रमेयम्।" प्र० हृ०, पृ० 27-28-29
27. तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः। –तदेव पृ० 29

रहता है। वास्तव में कोई दूसरा ग्राह्य-ग्राहक है ही नहीं, अपितु परमशिव ही इस प्रकार विश्वरूप में विभिन्न हजारों वैचित्र्य वाले रूपों से स्फुरित होता है।[28]

चेतन (जीव) भी शिवमय

शक्तिसूत्रों अनुसार जब एक शिव ही नाना वैचित्र्यों से सर्वत्र आभासित हो रहे हैं, तो जिज्ञासा होती है कि जीव भी शिवरूप ही है या भिन्न व्यक्तित्व वाला है ? परमशिव को तो विश्वमय कहा है, तो क्या जीव में भी ऐसी कोई विशेषता है या भानुमती के कुम्बे की तरह कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा है ? इस पर क्षेमराज कहते हैं कि जिस प्रकार भगवान् विश्व शरीर हैं अर्थात् विश्व में व्यापक हैं, वैसे ही-चेतन (जीव) भी, जिसमें चिति संकुचित हो गई है, संकुचित रूप में विश्वमय है।[29] तात्पर्य यह है कि चेतन और चिति में अन्तर नहीं है, वह उसका संकोचमात्र है। परमशिव की अनुत्तर दशा में तो विश्व बीजरूप से तादात्म्यभाव से उनमें रहता है और जब वे सृष्टि लीला के लिए विश्व को अपने से पृथक् कर देते हैं, तो उस समय केवल प्रकाशरूप में ही रहते हैं अर्थात् उस समय विश्व का अभाव शून्य-सा हो जाता है, इस दशा को "अनाश्रित शिव" भी कहते हैं। इसके बाद चिद्रसघनीरूप सम्पूर्ण तत्त्व, भुवन, भाव एवं तत्तत् प्रमाता आदि के रूप में विकसित होता है।[30] इस तरह सम्पूर्ण प्रपञ्च में स्वतः व्यापक होने से जैसे भगवान् विश्व शरीर हैं, उसी तरह जीव भी जिसमें कि मात्र चिति का संकोच हो गया है, संकुचित रूप में अखिल विश्व रूप ही है। जैसे विशाल वटवृक्ष संकुचित (सूक्ष्म) रूप में अपने बीज में रहता है।[31] इसी प्रकार का प्रमाण सिद्धान्त वचन में है[32] और त्रिशिरो मत में भी ऐसा ही कहा गया है। तात्पर्य यह है कि शिव के साथ प्रकाश ऐकात्म्य के कारण जीव भी उस विश्वशरीर से अभिन्न है, अतः विश्वशरीर ही है।[33] केवल उसकी माया शक्ति के प्रभाव से अनभिव्यक्त स्वरूप होने से संकुचित (परिमित)-सा आभासित होता है। दूसरे वह

---

28. "श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मक -- वैचित्र्य -- स्फुरति।" -प्र० हृ० 29
29. "चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः।" --प्र० हृ०, सू० 4, पृ० 30
30. "श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन -- आत्मतयापि प्रथते।" -तदेव, पृ० 30-31
31. "यथा च एवं भगवान् विश्वशरीरः तथा चितिसंकोचात्मा -- विश्वरूपः।" तदेव
32. "विग्रहो विग्रही चैव सर्वविग्रहविग्रही।" -पृ० 31, तदेव
33. "सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं श्रृणु प्रिये -- विश्वं व्यवस्थितः।" -प्र० हृ०, पृ० 31-32

संकोच भी चिदैकात्म्य से विकसित होने के कारण चिन्मय ही है, अन्यथा वह नहीं रहेगा,[34] क्योंकि यदि अज्ञान प्रकाशित नहीं होता, तो ज्ञान ही प्रकाशित हो शेष रह जाता है और यदि प्रकाशित होता है, तो प्रकाशरूप होने से ज्ञान ही है अ चिद्रूप ज्ञान ही सब कुछ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस दर्शन में अज्ञान अभावरूप नहीं माना गया है, अपितु ज्ञान का ही संकुचित (परिमित) रूप स्पन्दशास्त्र में भी शिवऔर जीव की अभेदता ही बतलाई गई है।[36] अत: सभी ग्रा (जीव) शिवभट्टारक ही हैं।[37] वह कहते हैं कि इस अभेदता के ज्ञान में ही मु है और अज्ञान में ही बन्धन।[38]

चित्त भी चिति ही

अद्वयनय अनुसार जीव भी शिवमय ही है, परन्तु जीव को तो विकल्पमय कहा गया है और विकल्पन चित्त का हेतु है अर्थात् चित्त द्वारा ही विकल्प वि जाताहै तथा यह चित्त तो परिमित ज्ञान वाला होता है, अत: जीव शिवात्मक बन सकता है ? इस शंका के समाधान में क्षेमराज कहते हैं कि– चिति चेतनपद से उतरकर चित्त बन जाती है, क्योंकि वह चेत्य (प्रमेय) के अनुरूप संकुचित हो जाती है।[39] तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रमाता विकल्पमय होता है विकल्पन चित्त का स्वभाव है,[40] परन्तु ऐसा होने पर भी वह शिव ही है, क्यो वह भगवती चिति का ही संकुचित रूप है। जब वह अपने स्वरूप को छिपा संकोच ग्रहण करती है, तब उसकी दो प्रकार की गति होती है– कभी तो जो संकोच प्रारम्भ हो रहा है, उसे गौण करके चित् की प्रधानता के रूप में प्रका होती है और कभी संकोच की प्रधानता के रूप में। जब चित् की प्रधानता स रूप में प्रकट होती है, तो उस समय विमर्शरहित केवल प्रकाश के प्रधान होने 'विज्ञानाकल' की दशा होती है अर्थात् प्रमाता को कर्तृता का ज्ञान नहीं रहता।

34. "ग्राहकोऽपि अयं प्रकाशैकात्म्येन -- अन्यथा तु न किंचित्।" –तदेव पृ० 32
35. (क) "अख्यातिर्यदि न ख्याति -- अवशिष्यते।" –तदेव
    (ख) भा० गी० 2 ।26– "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।"
36. "यस्मात् सर्वमयो जीव: -- न सावस्था न य: शिव:।" –स्प० का०, 2/23
37. "सर्वो ग्राहको विश्वशरीर: शिवभट्टारक एव।" –पृ० 32 प्र० हृ०
38. "शिवजीवयोरभेद एव। -- अपरिज्ञानमेव च बन्ध।" –तदेव, पृ० 33
39. "चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्।" –प्र० हृ० सू० 5 ।पृ० 34
40. "ग्राहकोऽयं विकल्पमय:, विकल्पनं च चित्तहेतुकं।" –प्र० हृ० पृ० 34

काश के विमर्शसहित प्रधान होने पर 'विद्या प्रमाता' की दशा होती है, जिनका भेद है एक सार-ऐसा विश्व प्रमेय होता है। इस स्थिति में भी संकोच के क्रम से कम ने पर ईश्वर, सदाशिव एवं अनाश्रित शिव की अवस्था प्राप्त होती है।[41] समाधि के भ्यास से प्राप्त किये हुए चित् के प्रधानत्व में शुद्धाध्वा का प्रमाता क्रमश: सर्वश्रेष्ठ थति में पहुँच जाता है। चित् के संकोच की प्रधानता होने पर 'शून्यादि प्रमाता' नते हैं। इस दशा में अवस्थित होने पर चिति ही परिच्छिन्न जीव के रूप में चेतनपद उतरकर विषयोंको ग्रहण करने में तत्पर होकर प्रमेयों– जैसे नील (बाह्य प्रमेय) ख (आन्तरप्रमेय) इत्यादि के अनुरूप परिमित होकर दो संकोचों (बाह्य और न्तर) से संकुचित होकर चित्त बन जाती है।[42] अर्थात् उसका यह व्यापार ही चित्त कहलाता है। प्रत्यभिज्ञा में भी ऐसा ही कहा गया है कि शिव की ज्ञान, क्रिया एवं माया क्तियाँ ही जीव दशा में क्रमश: सत्त्व, रजस् और तमस् बन जाती हैं।[43] इस तरह पष्ट हुआ कि स्वातन्त्र्यात्मा ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा चितिशक्ति ही पशु (जीव) शा में संकोच के प्राबल्य से सत्त्वरजस्तम: स्वभाव वाले चित्त के रूप में स्फुरित होती है।[44] अत: जीव शिवात्मक होने से सन्देह नहीं होना चाहिए।

माया प्रमाता चित्तमय

अद्वैत शैव मतानुसार चिति ही चित्त बनती है, परन्तु शून्यदशा में तो कुछ रहता ही नहीं, तो उस समय चित्त का क्या होता है ? एवं किस अवस्था तक चित्त का प्रभाव रहता है ? इस जिज्ञासा को स्पष्ट करने के लिए क्षेमराज कहते हैं– माया दशा का प्रमाता चित्तमय ही होता है[45] अर्थात् माया से पृथिवी तक सब प्रमाताओं में माया के प्रभाव के कारण चित्त की ही प्रधानता होती है। देह, प्राण के क्षेत्र में तो चित्त की प्रधानता स्पष्ट ही दिखाई देती है, परन्तु शून्य अवस्था भी चित्त के संस्कार से युक्त ही होती है अर्थात् उस समय चित्त का कार्य स्पष्ट तो नहीं दिखाई देता, परन्तु वह अतिसूक्ष्म रूप में विद्यमान अवश्य होता है। यदि ऐसी बात न होती, तो शून्य के अनुभव के बाद, व्युत्थान दशा में, अपने कर्त्तव्य कार्यों में पुन:

---

41. "न चित्तं नाम अन्यत् किंचित् -- अनाश्रितरूपता।" –प्र० हृ०, पृ० 34-35
42. "समाधिप्रयत्नोपार्जिते -- चित्तम्।" –तदेव, पृ० 35-36
43. "स्वाङ्गरूपेषुभावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया माया तृतीयं च। ते एव पशो: सत्त्वं रजस्तम:।" –ई० प्र० भा० 2, 4-1-4
44. "स्वातन्त्र्यात्मा -- स्फुरति।" –प्र० हृ० पृ० 26
45. "तन्मयो मायाप्रमाता।" –प्र० हृ० सू० 6, पृ० 37

प्रवृत्त होना सम्भव न होता। परन्तु हम प्रत्यक्ष अनुभव से देखते हैं कि व
सुषुप्ति या इससे भी परे की अवस्था से जाग्रत् दशा में आने पर बिना किसी
अपने उस दशा में किये जाने के पहले कार्यों में अनायास ही तत्पर हो जात
अतः माया दृष्टिकोण का प्रमाता चित्त प्रधान ही होता है।[46] शिवसूत्रों
यथार्थतत्त्व निरूपण में तो 'चैतन्य' (चिति) को ही आत्मा कहा है और माय
चँगुल में फँसे जीव का लक्षण बतलाते समय 'चित्त' को ही आत्मा कहा है।[47]

आत्मा का स्वरूप

अद्वैत शैव सिद्धान्त में भी कहा जाता है कि आत्मा के वास्तविक स्वरू
जानने से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है, तो आत्मा का यथार्थ स्वरूप क्या
कभी तो चैतन्य को आत्मा कहते हैं, कभी चित्त को, तो फिर इसका समाधान
है ? इस समस्या के शान्त करने के लिए क्षेमराज आत्मा का यथार्थ स्वरूप ब
हुए कहते हैं कि– यद्यपि आत्मा एक है, तथापि वह द्विरूप, त्रिमय, चतुर्मय
सात–पञ्चक स्वभाव वाला है।[48] यह तो पीछे स्पष्ट किया ही गया है कि चि
शिव भट्टारक ही एक आत्मा है, दूसरा कोई नहीं, क्योंकि प्रकाश (चित्
देश, कालादि से भेद नहीं किया जा सकता। भेद तो भिन्न–भिन्न गुणों के
होता है। एवं देश–काल की कल्पना भी नियत (सीमित) वस्तु में ही हो सक
परन्तु शिवभट्टारक तो प्रकाशरूप है और असीमित है एवं व्यापक है, अतः व
एक है, दूसरे जड़ (अचित्) का तो ग्राहकत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता।
प्रकाश ही अपने स्वातन्त्र्य से प्राणादि संकोच को ग्रहण करता है तथा संकु
विषयों का ग्राहक बन जाता है, इसलिए वह प्रकाशरूप और संकुचित अवभा
के कारण द्विरूप बन जाता है। आणव, मायीय तथा कार्म मल से उपहित हो
कारण वह त्रिमय हो जाता है। वह शून्य, प्राण, पुर्यष्टक तथा स्थूल शरीर
स्वभाव ग्रहण करता है, अतः चतुरात्मा कहलाता है। शिव से लेकर पृथिवी
पैंतीस तत्त्वों के स्वभाव से सात–पञ्चक स्वभाव वाला है। वह आत्मा शि
लेकर सकल तक सात प्रमाताओं के रूप वाला है और चित्, आनन्द, इच्छा,
एवं क्रिया शक्तिरूप होने पर भी अज्ञानवश (अर्थात् संकुचित) होकर कला, वि

46. "देहप्राणपदं तावत् चित्तप्रधानमेव। शून्यभूमिरपि –– प्रमाता।" –तदेव, पृ० 37
47. चैतन्यमात्मा ––। –शि० सू० 1–1। और "आत्मा चित्तम्।" –तदेव 3–1
48. "स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः।" –प्र० हृ० सू० 7, पृ० 38

, काल एवं नियति रूप से कञ्चुकों से स्वतः ग्रस्त हो जाने के कारण पाँच रूपों
ता है।[49] इस तरह पैंतीस तत्त्वों के रूप में, सात प्रमाताओं के रूप में, चित् आदि
शक्तियों के रूप में वह एक शिव ही अपनी स्वातन्त्र्य लीला से स्वयं आभासित हो
है अर्थात् सब कुछ शिव ही शिव है– ऐसा ज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् रूप है,
यथा सब बन्धन का ही कारण है।[50]

स्त दर्शन आत्मा की कृत्रिम भूमिकायें

इस सिद्धान्त में तो शिव को ही सब कुछ कहा गया है, परन्तु दूसरे दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् मान्यतायें पाई जाती हैं, तो क्या सिद्धान्त का उनसे स्पष्ट विरोध है अर्थात् यह उनका निराकरण करता है या समन्वित दृष्टिकोण रखता है.? इस जिज्ञासा के समाधान हेतु क्षेमराज पादित करते हैं कि– समस्त दर्शनों की स्थितियाँ आत्मा की विविध भूमिकायें हैं।[51] तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण चार्वाकादि दर्शनों के सिद्धान्त इस आत्मा के की तरह स्वेच्छा से अवगृहीत कृत्रिम भूमिकायें हैं।[52] जैसे एक नट नाटक में , मन्त्री, सिपाही आदि की भिन्न-भिन्न भूमिकायें स्वेच्छा से निभाते हुए भी क व्यक्ति ही रहता है, इसी तरह शरीर, बुद्धि, प्राण आदि भी आत्मा के ही छा से गृहीत संकुचित रूपमात्र हैं। अतः यद्यपि कोई शरीर को, कोई बुद्धि को, प्राणादि को ही आत्मा मानता है, परन्तु इससे इस सिद्धान्त को कोई आपत्ति क्योंकि वे आत्मा के एक भाग को ही ऐसा मान रहे होते हैं, जो उनकी दृष्टि थूल सूक्ष्म तारतम्य का ही द्योतक होता है। अतः ऐसी मान्यतायें सर्वथा खण्डन की जा सकतीं। चार्वाक कहते हैं कि चैतन्य से संयुक्त शरीर ही आत्मा है। – वैशेषिक ज्ञानादि गुण समूहों के प्रतिपादक बुद्धि तत्त्व को ही प्रायः आत्मा हैं। अतः मोक्षदशा में उसका अभाव हो जाने से प्रायः शून्य को ही आत्मा हैं। जो 'मैं' भाव की प्रतीति से जाना जाता है और सुख-दुःखादि उपाधियों से ादित है, वही आत्मा है– ऐसे मत वाले मीमांसक भी बुद्धि को ही आत्मा मानने हैं। ज्ञान के अविरल प्रवाह को ही आत्मा मानने वाले सौगत भी बुद्धि व्यापार

"निर्णीतदृशा चिदात्मा शिवभट्टारक –– पञ्चकस्वरूपः।" –तदेव, पृ० 38 तः 40
"एवं च शिवैकरूपत्वेन –– मुक्तिदः –– संसारहेतुः।" –तदेव, पृ० 40
"तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः।" –प्र० ह० सू० 8, पृ० 40
"सर्वेषां –– कृत्रिमा भूमिकाः।" –प्र० ह० पृ० 41

तक ही सीमित हैं। कुछ वेदान्ती प्राण को ही आत्मा मानते हैं। 'यह सब कुछ असत् ही था' ऐसे औपनिषद् वाक्य को मानने वाले वेदान्ती अभाव को ही मानने से शून्य दशा में ही ठहरे हुए हैं। माध्यमिक भी ऐसा मानने से शून्य को ही मानने वाले हुए। पाँचरात्र– 'भगवान् वासुदेव ही उत्कृष्ट प्रकृति हैं, जीव चिन्गारी ही हैं'– ऐसा मानते हैं। अतः जीव को परा प्रकृति का परिणाम मा अव्यक्त तत्त्व में ही ठहरे हुए हैं। सांख्य–योग प्रायः कर्तृत्वशून्यता एवं बोधरूप होने से विज्ञानाकल दृष्टिकोण में ही आश्रय लेते हैं। सत् ही आदि में था– ऐसा वाले कुछ वेदान्ती ज्ञानप्रधानता वाले– ईश्वरतत्त्व को ही सर्वोच्च पद मानने शब्दब्रह्ममय पश्यन्ती रूप ही आत्मतत्त्व है– ऐसा मानने वाले वैयाकरण इच्छा श्री सदाशिव पद में ही ठहरे हुए हैं, क्योंकि पश्यन्ती इच्छा की भाँति अव्यक्त का उन्मेषमात्र होता है। इसी तरह अन्य दर्शन भी त्रिक् दर्शन के एक ही स्थित है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। तान्त्रिक विश्वोत्तीर्ण को आत्मा मानते हैं। कुलादि आम्नायों में विश्वमय को ऐसा माना गया है। परन्तु दर्शनविद् आत्मतत्त्व को विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों वाला मानते हैं। यह सिद्धान्त ही आत्मा के यथार्थरूप का प्रतिपादन करने वाला है और दूसरे एक–एक अंश द्योतन करने से पूर्ण विकसित नहीं हैं, अपितु साधक के लिए निम्नस्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक पहुँचने के लिए विश्रान्ति स्थल हैं, उनका निराकरण नहीं किया जा सकता। वे इसके पूरक ही हैं। अतः एक ही चिदात्म के स्वातन्त्र्य से अवभासित समस्त शास्त्रों के सिद्धान्त उनके स्वात आत्मगोपन एवं आत्मप्रकाशन के तारतम्य भेदमात्र हैं। यह सब एक ही आ समस्त शास्त्रों में लीला है। सीमित दृष्टिकोण वाले उस शिव की इच्छा एक–एक अंश में तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं एवं जब यह शास्त्रादि द्वारा हो जाता है कि पहले बुद्धि–प्राणादि के रूप में वर्णित प्रमाताओं की पहुँच देह ही सीमित है और विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमयरूप ही यथार्थ आत्मा है, तब भी शक्तिपात के बिना यह रूप उनकी समझ में नहीं आता।[54] अतः परिमित ही यथार्थज्ञान मानने अर्थात् देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि परिच्छिन्न रूपों को मानने से काम नहीं चलता। अतः मोक्ष प्राप्ति में असमर्थ अन्य शास्त्रों के

---

53. "चैतन्यविशिष्टं -- विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च इति त्रिकादिदर्शनविदः।" –प्र० हृ० 41 तः 4

54. "एवं एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः -- महाव्याप्तिं परशक्तिपातं विना न लभन्ते।" –तदेव 44-45

ो मानने वालों को मानों शिव की माया ही भ्रान्त करती है और जब मुक्ति दिलानी ती है, तो मार्ग से हट जाती है। [55]

मस्त ज्ञानों का स्रोत

शक्तिसूत्रों (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) अनुसार आत्मा केवल नटवत् भूमिकायें ही हीं निभाता है, अपितु हमारे सभी प्रकार के बाह्यान्तर ज्ञान व्यवहार का भी यही कमात्र स्रोत है और उन बाह्य आन्तर नीलसुखादि ज्ञानों की जो अन्तर्मुख श्रान्तियाँ हैं, वे सब चिदानन्दघन-स्वात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति के उपाय हैं। त्पर्य यह है कि जब-जब ज्ञान का बहिर्मुखरूप वास्तविक स्वभाव में विश्रान्ति प्त करता है, तब-तब बाह्य वस्तुओं से राग-द्वेष जाता रहता है, जिससे न्त:करण निर्मल होकर अपने चिदानन्दघन स्वरूप में परमानन्द लाभ करता है। मस्त प्रकार के ज्ञानों का आविर्भाव भी अपने स्वरूप से ही होता है। इस तरह ष्टि, स्थिति एवं संहार सम्पादनरूपा यह पूज्या तुरीया संवित् (आत्मा) उन-उन ष्टि आदि भेदों को बाहर प्रकट करती हुई एवं अपने में लीन करती हुई सदा पूर्ण, कृशा, उभयरूपा और अनुभयात्मा - बिना क्रम के स्फुरण करती हुई अवस्थित । [56] तात्पर्य यह कि वह इन चारों विकल्पों से परे है। समस्त उसी से प्रकट होते , जिससे वह पूर्ण प्रतीत होती है एवं उसी में संहृत होते हैं जिससे वह कृशा दिखाई देती है, परन्तु न वह इस तरह कृशा होती है, न पूर्ण। वह तो एक भौतिक तत्त्व है, जिसमें किसी भी व्यापार से अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्यभिज्ञाटीका भी ऐसा ही लिखा है। [57] अत: इस पूज्या तुरीया का अत्यधिक अनुशीलन करना ाहिए इस तरह वह शिवरूप ही हो जाता है और समस्त ज्ञानों का स्रोत अपने को मझ जाता है। [58]

---

5. (क) "भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।"
–स्वच्छ० तं० पटल 10, श्लो० 1141
(ख) "ते आत्मोपासका: शैवे न गच्छन्ति परं पदम्।" –नेत्र तं०, पटल 8, श्लो० 30
6. "अपि च सर्वेषां दर्शनानां -- स्फुरन्ति स्थिता।" –प्र० हृ० पृ० 46-47
7. "तावदर्थावलेहेन उत्तिष्ठति पूर्णा च भवति।" –तदेव
8. "एषा च भट्टारिका -- स्वात्मसात्करोत्येव भक्तजनम्।" –प्र० पृ० 47

शक्तिदरिद्र-संसारी (बद्ध, पशु, जीव)

आत्मा चिद्घनानन्दस्वरूप, अनन्तशक्तिशाली, व्यापक, तुरीया संवित् है, तो शंका होती है कि ऐसे शुद्ध स्वरूप वाली एवं ऐसी सामर्थ्य वाली होते हुए भी यह मल (अज्ञान) से आवृत होकर अणु (सीमित सामर्थ्य वाला जीव) कैसे हो जाती है और किस प्रकार इस व्यापक, अनन्त को कालादि सीमित विषय उपहित कर लेते हैं ? इस बात के समाधान हेतु कहते हैं– इस प्रकार की सामर्थ्य वाली आत्मा चित्संकोच की तरह अपनी शक्तियों के संकोच से मल से ढका हुआ संसारी बन जाती है।[59] तात्पर्य यह है कि जब चिदात्मा परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य महिमा से अभेद दशा को लीनकर भेद का अवलम्बन करता है, तब उसकी इच्छादि शक्तियाँ जो स्वभाव से असंकुचित हैं, संकुचित जैसी लगने लगती हैं। उनको ऐसा यथार्थ न समझना ही मल (अज्ञान) है, जिसके कारण यह अपने को परिमितरूप अणु समझकर संसार चक्र में पड़ जाता है।[60] संकोच की अवस्था में अबाधगति वाली स्वातन्त्र्यरूप इच्छाशक्ति संकुचित होकर आणव मल बन जाती है अर्थात् अबाधगति को सबाधगति मानना, स्वतन्त्रा को परतन्त्रा मानना– यही इच्छाशक्ति का संकोच है, जिससे वह अपने को अपूर्ण समझने लगता है। अणु बना देता है जो मल (अज्ञान), तभी आणव मल संज्ञित हुआ। क्रम से संकोच ग्रहणता के कारण ज्ञानशक्ति का सर्वज्ञत्व किञ्चिज्ज्ञत्व को प्राप्त हो जाता है तथा अत्यन्त परिच्छिन्न होने के कारण अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियों की दशा ग्रहणकर मायीय मल बन जाती है, जिसका स्वभाव है समस्त वस्तुओं को भिन्नरूप में समझना अर्थात् जब अणु बन जाता है, तो अपनी सर्वज्ञता को भूलकर कुछ ही जानने की प्रवृत्ति अपना लेता है जो क्रमशः क्षीण होती हुई सीमित संकल्पविकल्पादि एवं श्रवणादि के रूप में परिणत हो जाती है। परन्तु ऐसी ज्ञानशक्ति स्वभावतः होती नहीं है– उसको ऐसी न होने पर भी– "ऐसी ही हूँ"– इस प्रकार की द्वैत वृत्ति से आवृत होना ही मायीय (जो नहीं है) मल (अज्ञान) है। तदनन्तर क्रम से भेद की अवस्था में क्रियाशक्ति का सर्वकर्तृत्व किञ्चित्कर्तृत्व को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह अपने को कुछ ही कर सकने की सामर्थ्य वाला समझने लगता है। यह क्रियाशक्ति अधिक संकोच से कर्मेन्द्रिय (सीमित करने की शक्ति वाले वागादि तत्त्व) रूप धारण कर अत्यन्त सीमितता को प्राप्त कर कार्ममल बन जाती है (कर्मसम्बन्धी अज्ञान), जो शुभ और अशुभ क

59. "चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी।" –प्र० हृ० सू० 9, पृ० 48
60. "यदा चिदात्मा परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् –– संसारी भवति।" –तदेव

का हेतु है। इसी प्रकार सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ संकोच ग्रहण करके क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियतिरूप में भासित होने लगती हैं।[61] इस तरह शक्तियों से संकुचित हो जाना ही संसारी है अर्थात् अणु बनने का कारण है, परन्तु शक्तियों के विकसित होने पर तो वह शिव ही हो जाता है।[62]

शिव-जीव-कर्तृत्व

संसारी दशा को शिव ही प्राप्त होता है, अन्य नहीं। परन्तु क्या इस संसारी अवस्था में उसके शिवत्व का प्रतीक कार्य है ? इस जिज्ञासा के समाधान हेतु क्षेमराज कहते हैं कि संसार की अवस्था में भी जीव शिव की तरह ही पञ्चकृत्य करता है।[63] जब भगवान् शुद्धाध्वा से इतर (माया) में विस्तार क्रम से अपने स्वरूप का विकासरूप सृष्टि आदि करते हैं, तो उस अवस्था में चित्शक्ति के संकुचित हो जाने पर प्राप्त संसार भूमि में भी पञ्चकृत्य करते रहते हैं।[64] इस तरह व्यवहार अवस्था में भी शिव देहादि में प्रविष्ट होकर अपने भीतर प्रकाशमान प्रमेय समूह को अपनी इच्छा से बाहर अभिव्यक्त करते हैं।[65] चिद्रूप महेश्वर देह-प्राणादि दृष्टिकोण में प्रविष्ट होकर बहिर्मुखीभाव के समय जब नीलादि विषयों को नियत (सीमित) देश, काल इत्यादि से अवभासित करते हैं, तब नियत देश, काल आदि में जो आभासित हो रहा है, यह उनकी सृष्टिप्रक्रिया है। विषयों के आभास का बने रहना स्थितिक्रिया एवं अन्य देश और काल में भासित होना संहारक्रिया कहलाती है। उनका भेद से आभासित होना विलयक्रिया एवं चित्प्रकाश के ऐक्य से आभासित होना उनकी अनुग्रहक्रिया है।[66] इस तरह सतत पञ्चकृत्य अपने भीतर चलता रहता है। इसीलिए जो विश्व को अपने स्वरूप का विकासमात्र समझते हैं, जीवन्मुक्त हो जाते हैं और इसको भेद दृष्टि से देखने पर बद्ध बन जाते हैं।[67]

---

61. "तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति -- भान्ति।" -प्र० हृ० पृ० 48-49
62. "तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते। स्वशक्तिविकासे तु शिव एव।" -तदेव 49
63. "तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति।" -तदेव, सू० 10, पृ० 50 तथा स्वच्छ० तं०, प० 1, श्लो० 3
64. "यथा च भगवान् शुद्धेतरध्वास्फारण -- विधत्ते।" -तदेव, पृ० 51
65. "तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्। भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः।" -ई० प्र० भा० 1, पृ० 6-7
66. "देहप्राणादिपदं -- ग्रहीतृता।" -प्र० हृ०, पृ० 51-52
67. "एवमिदं पञ्चविधकृत्यकारित्वं -- बद्धात्मानः।" -तदेव, पृ० 52-53

क्षेमराज पञ्चकृत्यकारिता का अन्य प्रकार– प्रकाशन, आस्वादन, आत्मबोध, बीज का अवस्थापन, विलापन के भेद से प्रदर्शित करते हैं। [68] तात्त्विकदृष्टि से चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रसरण क्रम से जो अवभासित होता है, वही सृष्टि है। उस सृष्टि पद में जब बिना आँख बन्द किये ही कुछ समयतक आस्वादन लिया जाता है, वह स्थिति कहलाता है। विमर्शन, जिसे चमत्कार भी कहते हैं, के समय प्रमेय का संहृत करना ही संहार है। जब इस तरह संहृत होने पर भी विविध प्रकार के शंकादि संस्कार प्रकट हो जाते हैं, तब फिर से होने वाले संसाररूपी बीजभाव को पहुँचे हुए विलय का अध्यारोप होता है। जब पुनः उसे, या अन्तः स्थापित् अन्य अनुभवशील प्रमेय को, हठपाक क्रम से वा अलंग्रासयुक्ति से चिद्रूपी अग्नि से जलाया जाता है, तो चित् ही हो जाता है अर्थात् उक्त विधि से अपनी चिद्रूपता का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तो पूर्णत्व की प्राप्ति से अनुग्रह क्रिया होती है। [69] इस तरह का जीवरूप में भी पञ्चकृत्य चलता रहता है, जो अपने स्वरूप का स्वभाव ही होता है, तथापि ब्रह्मनिष्ठ गुरु के बिना समझ में नहीं आता, अतः इसके सद्ज्ञान के लिए ऐसे सद्गुरु की सेवा करनी चाहिए। [70] ईश्वराद्वय दर्शन की ब्रह्मवादियों (वेदान्तियों) से यही विशिष्टता है कि यहाँ श्रीमत्स्वच्छन्दादि शासनोक्त नीति से चिदात्मा भगवान् का पञ्चकृत्य सतत सदा चलता है। [71]

शक्तिव्यामोह – संसार

क्षेमराज कहते हैं कि गुरु उपदेश द्वारा भी जिनको अपने सतत पञ्चकृत्यकारित्व का ज्ञान समझ में नहीं आता या उस पर विश्वास नहीं करते, वे अपनी ही शक्तियों को न समझने से भ्रम के कारण जीवत्व को प्राप्त रहते हैं। तात्पर्य यह है– संसारदशा पञ्चकृत्य के अज्ञान के कारण अपनी ही शक्तियों से व्यामोहित हो जाना है। [72] अर्थात् शक्तियाँ तो उसकी अपनी ही होती हैं, परन्तु उनका यथार्थ ज्ञान न होने से अपने को तुच्छ समझता है, जिससे जीवदशा में भ्रमण करना पड़ता है। शक्तिपात से ही अपने बल का प्राकट्य होता है तथा उसके न होने से बल का

68. "आभासनरक्तिविमर्शनबीजावस्थापनविलापनतस्तानि।" –प्र० हृ० सू० 11, पृ० 53
69. "श्रीमन्महार्थदृष्टया दृगदेवीप्रसरक्रमेण -- अनुगृह्यत एव।" –तदेव, पृ० 54-55
70. "ईदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्वं -- अनुसर्तव्या।" –तदेव, पृ० 55
71. "सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्राणतार्तिविनाशनम्।।" –स्वच्छ० तं० 1/3
72. "तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।" –प्र० हृ० सू० 12, पृ० 56

प्रकाशन नहीं होता। इसके लिए वह अन्य लोगों एवं शास्त्रों की शरण में जाता है, परन्तु उनके परस्पर विचार नहीं मिलते, इसलिए वह नाना शंकाओं से जकड़ा जाता है [73]– यह जकड़ा जाना ही संसार है। लोक में अज्ञान से ही शंका होती है और यही जन्म-मरण का कारण होता है। [74] परन्तु सभी मन्त्र वर्णरूप ही होते हैं और वर्ण तो सारे ही शिवरूप ही होते हैं। [75] क्योंकि ये चित्प्रकाश (परमशिव) से अभिन्न प्रकाशरूप परावाक् शक्ति के ही विकसित रूप होते हैं। यंह नित्य-उच्चरित महामन्त्ररूप है और विशुद्ध अहं का विमर्श है। यह 'अ' से लेकर 'क्ष' तक सम्पूर्ण शक्तिसमूह को गर्भ में धारण किये रहती है तथा पश्यन्ती, मध्यमादि रूपों से क्रमशः प्रमाता की दशा को अवभासित करती है। तात्पर्य यह है कि उस अवस्था में अपने परा स्वरूप को छिपाती हुई माया के वशीभूत प्रमाता में अस्पष्ट एवं विशेष विषयों का अवभासन करने वाली प्रतिक्षण नव-नंव अर्थों से युक्त विकल्परूपी क्रिया को प्रकट करती है। परारूप अविकल्प दशा तो सर्वथा विशुद्ध ही होती है, परन्तु उसे विकल्पक्रिया से उपहित-सी दिखाती है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मी आदि देवताओं से अधिष्ठित ककारादि अद्भुत शक्तियों से मोहित होकर परिमित देह, प्राण आदि को ही मूढ़जन विवश होकर अपना आत्मा मानने लगता है। अर्थात् अ से लेकर क्ष तक जितने वर्ण हैं, वे सब जगत् व्यवहार के प्रतिपादक हैं एवं शिवरूप हैं। अतः उनका समस्त व्यापार भी शिवता का ही द्योतक होता है। परन्तु स्थूल बुद्धि इस रहस्य को न समझने से अकेले-अकेले शरीर आदि को ही आत्मा मानता है। इसीलिए परिमितता से परिमित हो जाता है। ब्राह्मी आदि देवियाँ पशु की अवस्था में भेदरूप विषय प्रपञ्च की तो उत्पत्ति और स्थिति एवं अभेदरूपी विषय का संहार करती हुई जीव में केवल सीमित विकल्प सामर्थ्य अवभासित करती हैं। परन्तु पतिदशा में द्वैत का तो संहार और अद्वैत की सृष्टि स्थिति दिखाती हुई क्रम से विकल्प का निरसन करके अत्यधिक निर्विकल्प दशा को प्रकट करती हैं, जो कि श्रीमद्भैरवीमुद्रा का समावेश कराती है, [76] जिससे वह समस्त विश्व को अपना ही विभव जानते हुए विश्व से तादात्म्य होने

---

73. "तस्यैतस्य सदा –– संसारित्वम्।" –तदेव, पृ० 56-57

74. "अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः।"
–श्रीसर्ववीरभट्टारक, प्र०, हृ०, पृ० 57

75. "मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः।" –तदेव

76. "चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता –– महतीमविकल्पभूमिमेव उन्मीलयन्ती।"
–प्र० हृ०, पृ०.57-59

से विकल्पों के रहने वाली दशा में भी शिव ही होता है।[77] इस प्रकार की तन्मयता चिदानन्द समावेश तत्पर शुद्ध-विकल्प शक्ति को उद्भासित करती है, परन्तु इन अपनी शक्तियों से अपरिचित रहने से ही संसार दशा की प्राप्ति बनी रहती है।[78]

भगवती पराशक्ति ही संसार को वमन (सृष्टि) करने के कारण संसाररूपी वाम (विपरीत) आचार के कारण वामेश्वरी कहलाती है। वे ही खेचरी के रूप में सब प्रमाताओं, गोचरी के रूप द्वारा समस्त अन्तःकरणों, दिक्चरी के रूप में समस्त बाह्य इन्द्रियों, भूचरी के रूप में समस्त पदार्थों के रूप में प्रकट होती हुई पशु दशा में शून्यपद में विश्राम करती हुई अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप का गोपन करती हुई खेचरी चक्र (शक्ति समूह) के द्वारा अपने पारमार्थिक चिद्गगनस्वरूप को छिपाती हुई किञ्चित्कर्तृत्व कलादि शक्ति के रूप में आभासित होती है। गोचरी चक्र द्वारा अभेदनिश्चयात्मक अपने यथार्थ स्वरूप का गोपन करती हुई अन्तःकरण देवी के रूप में प्रकट होती हैं, जिसका प्रधान व्यापार भेद का बुद्धि द्वारा निश्चय करना, भेद से अहंकार द्वारा तादात्म्य स्थापित करना, मन के द्वारा पदार्थों के भेद से विकल्पन करना है। दिक्चरी चक्र द्वारा अभेद प्रकाशित करने वाले यथार्थ रूप को छिपाकर बाह्येन्द्रिय देवता रूप प्रकट होती है, जिसका व्यापार भेद से ही देखना इत्यादि है। भूचरी चक्र द्वारा अपने सार्वात्म्य स्वरूप को छिपाकर पृथक्-पृथक् रूप से दिखलाई देने वाले प्रमेयों के रूप में, पशु के हृदय को व्यामोहित करके प्रकाशित होती है। पति की दशा में इसके विपरीत सर्वकर्तृत्व आदि शक्त्यात्मक चिद्गगनचरी रूप में, अभेद का निश्चय करने वाली गोचरी के रूप में, अभेद का आलोचन करने वाली दिक्चरी के रूप में, अपने अंग के रूप में पदार्थों को अद्वयरूप में प्रकट करने वाली भूचरी के रूप में प्रकाशित होती है।[79] चिदात्मा परमेश्वर की अद्वितीय, अनुपम, स्फुरत्तासार, कर्तृतात्मा ऐश्वर्य शक्ति है। वह जब अपने इस स्वरूप को छिपाकर पशु दशा में प्राण, अपान, समान शक्तियों की दशा से, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति भूमियों द्वारा, देह, प्राण, पुर्यष्टक, की कलाओं से व्यामोह पैदा करती है, तो यही व्यामोह जन्म-मरण का कारण होता है। जब मध्यधाम का उल्लास करने वाली उदानशक्ति, विश्व में व्याप्त होने वाली व्यानशक्ति, जो क्रमशः तुर्यदशा, तुर्यातीतदशा वाली एवं चिदानन्दघन

77. "सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः। विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।" –ई० प्र० भा० 2, 4-1-12

78. "चिदानन्दावेशमग्नां -- संसारित्वम्।" –प्र० हृ० पृ० 59

79. "चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् -- स्फुरति।" –प्र० हृ० पृ० 60-62

है, को उन्मीलित करती है, तब देहादि के रहते हुए भी जीवन्मुक्ति होती है, जो कि पतिदशा का ही अनन्यरूप होता है। इस प्रकार चित्प्रकाश का संकोच ग्रहण करना एवं उक्त तीन प्रकार से वर्णित शक्ति लीला को न जानना ही संसारीपन है तथा इनसे व्यामोहित न होना शिवरूपता ही है।[80] भट्ट दामोदर भी विमुक्तकों में निज शक्ति व्यामोहितता को ही संसारित्व अभिव्यक्त करता है।[81] आगम[82] एवं प्रत्यभिज्ञाटीका में भी शक्तिलाभ से शरीर में रहते हुए ही परमेश्वर होने की बात कही गई है।[83]

परिज्ञान में चित्त ही चिति

चिदात्मा के पञ्चकृत्यस्वभाव के पूर्ण ज्ञान होने पर चित्त ही अन्तर्मुखीभाव से चेतनपद पर पहुँचने से चिति हो जाता है।[84] तात्पर्य यह है कि चेतन पद से बहिर्मुखीभाव के कारण ही चिति संकुचित होकर चित्त बनती है, उसके पुनः चिति दशा में आरोहण का रहस्य अन्तर्मुखीभाव को बताया गया है, जिससे वह चेतनपद पर पहुँचने से अपने सहजस्वरूप चिति से एकाकार हो जाता है। आत्मा के पञ्चकृत्यकारित्व के ज्ञान से अपनी शक्तियों से व्यामोहित होना रूपी अज्ञान नष्ट हो जाता है, जिससे पुनः स्वातन्त्र्यलाभ होता है। चित्त जब बहिर्मुखीभावरूपी संकोच को त्याग देता है, तो अन्तर्मुखीभाव से चेतन पद पर स्थिति प्राप्त होने से प्रमाता की क्रमशः कलादि संकोचता विगलित हो जाती है, जिससे अपने यथार्थरूप चिति की स्थिति प्राप्त हो जाती है[85] अर्थात् साधक अपनी चिन्मयी परा भूमि में पुनः प्रवेश पा लेता है।

मायापद में भी भेदग्रसनत्व

जब चिति की अवस्था प्राप्त होने पर सब प्रकार के द्वैतभाव समाप्त हो जाते हैं और एक अद्वैत ही तात्त्विकरूप से रहता है, तो जिज्ञासा होती है कि यदि पारमार्थिक चित्शक्ति क्षेत्र सब तरह के भेदों का निरसन करके अभेद को ही प्रकाशित करने

---

80. "चिदात्मनः परमेश्वरस्य -- शरीरी परमेश्वरः -- शिवभट्टारक एव।"
    –तदेव, पृ० 63-65
81. "पूर्णावच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः।
    वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्स्युर्मुक्तिबन्धदाः।।" –तदेव, पृ० 66
82. "मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः।" –आगम
83. "शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं
    शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति।" –प्रत्यभिज्ञा टीका
84. "तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः।" –तदेव, सू० 13
85. "पञ्चकृत्यकारित्वस्य परिज्ञाने -- स्वरूपापत्त्या चितिर्भवति।" –प्र० हृ०, 66-67

वाला है, तो माया दृष्टिकोण में भी उसे इस स्वभाव को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि घने मेघों से आवृत होने पर भी सूर्य अपने प्रकाशन भावानुसार पदार्थों को अवभासित करता ही है। जो प्रकाश के तारतम्य की बात है, चाहे उतने स्पष्ट रूप में नहीं, परन्तु अस्पष्ट रूप से ही सही अवभासित तो करता ही है ? इस शंका का परिहार करने के लिए कहते हैं कि– चितिरूपी अग्नि अवरोह पद में माया से उपहित रहने पर भी प्रमेयरूपी ईन्धन को कुछ सीमा तक जला ही देती है।[86] तात्पर्य यह है कि जैसे अग्नि ईन्धन को ग्रस लेती है (जला देती है), उसी तरह चिति भी विश्व को ग्रस लेती है। इसलिए अग्नि की उपमा दी गई है तथा जिस प्रकार अग्नि राख (भूति) के बहुत बड़े ढेर से ढके जाने पर भी ईन्धन को कुछ सीमा तक जला ही देती है, उसी प्रकार चिति भी नील पीतादि प्रमेयरूपी ईन्धन को कुछ सीमा तक जला देती है अर्थात् आत्मसात् कर लेती है। यद्यपि वह अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव से माया की अवस्था में उस द्वारा उपहित होती है। अंशमात्र कवलित कर लेती है, से तात्पर्य है कि ज्ञेय को पूर्णतया ज्ञान का विषय नहीं बनाती, अपितु संस्कार रूप में पुनः प्रकट करने के लिए आंशिकरूप से ही आत्मसात् करती है। सभी प्रमाताओं का ज्ञेय को ज्ञान बनाने का स्वभाव है ही।[87] श्रीमदुत्पलदेवाचार्य भी शिवस्तोत्रावली में ऐसा ही भाव अभिव्यक्त करते हैं।[88]

बललाभ में विश्वात्मसात्कारत्व

जब इन्द्रियों के प्रसर-संकोच के द्वारा विश्व की सृष्टि और संहार का क्रम परिज्ञात हो जाता है अर्थात् प्रमाता को ज्ञेय का ज्ञान में एवं पुनः ज्ञेय में परिणत करने के रहस्य का पता चल जाता है, तो इसका क्या लाभ होता है ? क्षेमराज अनुसार तब चिति के सहज बल को प्राप्त करने से साधक विश्व को आत्मसात् कर लेता है।[89] चिति का देह, प्राण आदि कोशों को दबाकर अपने स्वरूप का उन्मेष करना "बल" कहलाता है। इस तरह चिति का बल प्राप्त हो जाने पर अपने यथार्थरूप में ठहराव हो जाता है, जिससे सदाशिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त विश्व अपने स्वरूप के साथ अभेद से भासित होता है अर्थात् अपना आत्मा ही प्रतीत

86. "चितिवह्निरवरोहपदे च्छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति।" –तदेव, सू० 14
87. "चितिरेव विश्वग्रसनशीलत्वात् -- एव सिद्धम्।" –प्र० हृ०, पृ० 67-68
88. "वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णवः।
ग्रसमानास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम्।" –शि० स्तो०, 20/17
89. "बल्लाभे विश्वमात्मसात्करोति।" –तदेव, सूत्र 15, पृ० 69

होता है। विश्व को आत्मसात् कर लेने वाला समावेश कभी-कभी होने वाला नहीं है, अपितु सदा ही प्रकाशमान है। वास्तव में देहादि के उन्मज्जन-निमज्जन (अवभासन-निर्भासन) के कारण ऐसा प्रतीत होता है। वे तो इस द्वारा ही प्रकाशित होते हैं अन्यथा इसके अभाव में उनका भी अभाव हो जायेगा। इसलिए जितने भी उपायों का अभ्यास किया जाता है, वह वास्तव में देहादि से तादात्म्यत्व को दूर करने के लिए ही होता है, इस सदैव प्रकाशशील चिति शक्ति से तादात्म्य स्थापित करने के लिए नहीं [90] – ऐसा श्री प्रत्यभिज्ञाकार का दृढ़ मत है।

जीवन्मुक्ति

चिति के बल से विश्व अपनी आत्मा की भाँति भासित होने लगता है, तो इससे क्या लाभ होता है ? अथवा क्या यही लक्ष्य की प्राप्ति है ? इस बात का सम्यक् निरूपण करने के लिए क्षेमराज कहते हैं कि – चिदानन्दलाभ होने पर शरीर इत्यादि का अनुभव (ज्ञान) होने पर भी चित् से एकात्मता का बोध दृढ़ हो जाता है – इसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। [91] तात्पर्य यह है कि विश्वात्मसात्कारत्व में समावेशरूप चिदानन्द लाभ होता है, जिससे व्युत्थान अवस्था में परत के समान देह, प्राण, नील, सुख आदि के भाव होते हुए भी समावेश के संस्कार बल से एवं मध्यविकास के पुष्ट हो जाने से चित् के साथ ऐकात्म्य बोध की दृढ़ता हो जाती है– उसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। ऐसा ही स्पन्दशास्त्र में कहा गया है। [92]

चिदानन्दलाभ

चिदानन्दलाभ से जीवित दशा में भी मुक्ति प्राप्त हो जाती है, तो जिज्ञासा होती है कि इस चिदानन्दलाभ का कोई उपाय भी है या नहीं ? इसके समाधानार्थ राजानक क्षेमराज कहते हैं कि– मध्य के विकास से चिदानन्दलाभ हो जाता है। [93] सबके अन्तरतम होने से एवं इसके सामीप्य से ही सभी की स्थिति होने से – भगवती

---

90. "विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः न कादाचित्की
अत एव देहादिप्रमातृताभिमाननिमज्जनाय अभ्यासः,
न तु सदा प्रथमानतासारप्रमातृताप्राप्त्यर्थम्, इति श्रीप्रत्यभिज्ञाकाराः।" –तदेव, पृ० 70-71

91. "चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।"
–प्र० ह० सू० 16, पृ० 71

92. "इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्। स पश्यन् सततं युक्तो
जीवन्मुक्तो न संशयः।" –स्पन्द० का० नि० 3-3

93. "मध्यविकासात् चिदानन्दलाभः।" –प्र० ह० सू० 17, पृ० 73

संवित् को ही 'मध्य' कहा जाता है। यह सब का केन्द्रभूत (मूलस्रोत) होने पर भी माया दृष्टिकोण में जब अपने यथार्थ स्वरूप को छिपाकर-पहले संवित् प्राण में परिणत हुई [94] तब इस तरह-प्राण (जीवनधारक) शक्तिभूमि को अपनाकर अवरोह क्रम से बुद्धि देहादि क्षेत्र में ठहरती हुई सहस्र नाड़ी-मार्ग में अवस्थित हुई। वहाँ भी मुख्यतः ब्रह्मरन्ध्र से अधोवक्त्र पर्यन्त पलाशपत्र की मध्य तन्तु के समान प्रधानतया मध्यम नाड़ी के रूप में स्थित है, जिसका आश्रय प्राणशक्तिरूपी ब्रह्म है। मध्यम नाड़ी इसलिए कहते हैं कि सब चित्तवृत्तियों का यहीं से उदय और इसी में लय होता है। इस प्रकार की सामर्थ्य वाली होती हुई भी पशुओं के लिए अपने स्वरूप को छिपाये हुए स्थित है। जब सबके अन्तरतम में मध्यरूप से रहने वाली भगवती संवित् का पञ्चकृत्य के अभ्यास से विकास होता है या आगे कहे जाने वाले क्रम से ब्रह्मनाड़ी का विकास होता है, तब चिदानन्दलाभ होता है, [95] जिससे जीवन्मुक्ति की प्राप्त हो जाती है।

मध्यविकास के उपाय

मध्य विकास से चिदानन्दलाभ होने पर जीवन्मुक्ति हो जाती है, जिससे जीवन सफल हो जाता है। परन्तु इस मध्य का विकास कैसे किया जाये ? इस जिज्ञासा समाधान हेतु क्षेमराज कहते हैं कि- विकल्पक्षय, शक्ति संकोचविकास, वाहच्छेद, आद्यन्तकोटि निभालन आदि प्रत्यभिज्ञा एवं आगम-सम्मत उपाय बतलाये जाते हैं। [96] पहले एक मुख्य उपाय का निरूपण किया जा चुका है कि जब अपने यथार्थस्वरूप की पहचान पञ्चकृत्यकारित्वादि से हो जाती है तो स्वतः मध्य का विकास हो जाता है, जिससे शिवस्वरूपता लाभ होता है। [97] अब अवान्तर सरल उपाय कहे जाते हैं, जिनसे प्राणायाम, मुद्राबन्ध आदि समस्त कठोर साधनाओं से छुटकारा हो जाता है और लक्ष्य की सिद्धि भी हो जाती है। ये क्रमशः इस प्रकार हैं :-

---

94. "प्राक् संवित् प्राणे परिणता" इति तत्त्वार्थचिन्तामणावुक्तम् श्रीभट्टकल्लटेन।" -शि० सू० वि०, 3/43
95. "सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् -- जीवन्मुक्तिः।" -प्र० हृ, पृ० 73-74
96. "विकल्पक्षयशक्तिसंकोचविकासवाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादय इह उपायाः।" -प्र० हृ०, सू० 18, पृ० 75
97. "पञ्चविधकृत्यकारित्वाद्यनुसरणेन सर्वमध्यभूतायाः संविदो विकासो जायते।" -तदेव, पृ० 75

विकल्पक्षय

अपने हृदय में चित्त को स्थापित करके, अपनी यथार्थ स्थिति के प्रतिबन्धक विकल्प को, बिना अन्य किसी चिन्तन के रोककर, निर्विकल्प होकर, देहादि के प्रति दूषित तादात्म्य को त्याग कर अपनी पारमार्थिक चेतना के प्रमाता होने का अभ्यास करने से शीघ्र ही विकास की ओर उन्मुख हुई तुर्य–तुर्यातीत–समावेश दशा को प्राप्त कर लिया जाता है। [98] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, स्पन्दशास्त्र एवं श्रीज्ञानगर्भ में भी ऐसा ही मत मिलता है। [99]

शक्तिसंकोच

इन्द्रियों के द्वारा विषयों की ओर जाती हुई शक्ति को सिमटकर प्रत्यगात्मा की ओर लगाना ही शक्तिसंकोच है। [100] इन्द्रियों की बाहर फैली हुई शक्ति को चारों ओर से संग्रहित करके, जैसे कछुआ भय के समय अपने अंगों को सिकोड़ कर भीतर की ओर पलट देता है, प्रत्यग् आत्मा की ओर लगाना भी शक्तिसंकोच कहा जाता है। उसके पलटने से नित्योदित की स्थिति प्राप्त हो जाती है। [101] कठोपनिषद् में धर्मराज नचिकेता को भी ऐसा ही उपदेश देते हैं।

शक्तिविकास

भीतर छिपी हुई शक्तियों का एक साथ ही सब इन्द्रियों के प्रसार द्वारा शक्ति का विकास होता है। अर्थात् लक्ष्य तो भीतर रहे एवं दृष्टि बिना बन्द या खोले हुए एकटक बाहर की ओर रहे– भट्टश्रीकल्लट का भी ऐसा ही मत है। चित्त के भीतर अनुप्रवेश के साथ इन्द्रियों का बाहर फैलाव भैरवी मुद्रा कहलाता है। [102] शक्ति का

---

98. "हृदयनिहितचित्तः –– समावेशदशां आसादयति।" –तदेव, पृ० 76

99. (क) "विकल्पहानेनैकाग्र्यात्क्रमेणेश्वरतापदम्।" –ई० प्र० का०, 4/1/11
(ख) "यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्।" –स्प० का० नि० 1/9
(ग) "विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो, विमुक्तकरणक्रिया-नुसृतिपारतन्त्र्योज्ज्वलम्। स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा, दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी।" –श्रीज्ञानगर्भे

100. "शक्तेः संकोच–इन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एवाकुञ्चनक्रमेण उन्मुखीकरणम्। –प्र० हृ०, पृ० 78

101. प्रसृताया अपि वा कूर्माङ्गसंकोचवत् –– नित्योदित स्थितिः।" –तदेव, पृ० 79

102. (क) "शक्तेर्विकासः – अन्तर्निगूढाया अक्रममेव सकलकरणचक्रविस्फारणेन अन्तर्लक्ष्या-बहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जितः इति भैरवीयमुद्रानुप्रवेशयुक्त्या बहिः प्रसरणम्।" –प्र० हृ०, पृ० 79
(ख) "रूपादिषु परिणामात् तत्सिद्धिः।" –श्रीभट्टकल्लटेन उक्तम्

विकास - ऊर्ध्वकुण्डलिनी में फैलाव और रुकाव दशा का मानसिक अभ्यास है, जो दशा सूक्ष्म प्राणशक्ति द्वारा भौहों के बीच के प्राण के निरोध से क्रमशः प्राप्त होती है और जो सूक्ष्म प्राणशक्ति नाक के भीतर के वायुस्पन्दन के नियमन से विकसित होती है। एवं शक्ति का संकोच – षष्ठवक्त्ररूपी मेढ्रकन्द में विद्यमान अधः कुण्डलिनी में, प्राणशक्ति को पुटकर, अधः कुण्डलिनी के मूल मध्य और अग्रभाग में समावेश है। [103]

वाहच्छेद

दोनों वाहों अर्थात् प्राण और अपान, जिनमें प्राण सुषुम्ना के दाईं ओर तथा अपान बाईं ओर चलता है, को हृदय में पहले रोककर अनच्क (स्वररहित) ककार, हकार इत्यादि वर्णों के उच्चारण से विच्छेद करना– वाहच्छेद है। [104]

आद्यन्तकोटिनिभालन

इससे तात्पर्य है– हृदय और द्वादशान्त में प्राण के उमड़ने (उदय) और समाप्त (अस्त) होने के अवसर पर चित्त को लगाने का अभ्यास करना। [105]

इस प्रकार के अन्य भी उपायों से मध्यविकास होने से चिदानन्द लाभ होता है। इसी को परमयोगी की समाधि, समापत्ति, समावेश आदि कहते हैं। जहाँ जहाँ भी मन को आनन्द मिले, उसके वहीं लगाकर ध्यान करने से उसमें ही परमानन्द के स्वरूप का भान (प्रकाश, अनुभव) होगा। [106]

नित्योदित समाधि

स्वसंवित्ति अथवा आत्मचेतना की दो प्रकार की स्थिति मानी गई है– शान्तोदित तथा नित्योदित। प्रथम में आत्मचेतना का आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है, परन्तु दूसरी में एकरस उदय बना रहता है। यद्यपि आत्मा नित्योदित है, परन्तु हमारी चेतना की स्थिति समान नहीं रहती। समाधि समावेश को ही कहते हैं, जो शिवता का उदय और शरीरादि अनात्मता का विलयभाव है। इस प्रकार की

103. "शक्तेश्च संकोचविकासौ -- आवेशः।" –तदेव, पृ० 80-81
104. "वाहयो. वामदक्षिणगतयोः -- विच्छेदनम्।" –तदेव 81-82
105. "आदिकोटि हृदयम् -- परिशीलनम्।" –तदेव, पृ० 82-83
106. "यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्। तत्र तत्र परानन्दस्वरूपः संप्रकाशते।" –श्री वि० भै०, श्लो० 73

चिदानन्दलाभरूपी समाधि कभी-कभी होती है या सदैव वर्तमान रहती है एवं इसका उपाय क्या है ? इस शंका समाधान हेतु क्षेमराज कहते हैं कि- समाधि के संस्कार से परिपूर्ण व्युत्थान में बार-बार चित् के साथ अपने ऐकात्म्य का चिन्तन करते रहने से शाश्वत समाधि का लाभ होता है।[107] तात्पर्य यह है कि ऐसा योगीवर, जिसने समावेश प्राप्त कर लिया है, समाधि के आनन्द के संस्कार से मतवाले के समान आनन्द से झूमता हुआ, चिद्गगन में पदार्थों के समूह को शरद ऋतु में मेघ के टुकड़े के समान लीयमान देखता हुआ, बार-बार अन्तर्मुखता का आश्रय लेता हुआ, निमीलन समाधि की विधि से चित् से अपने ऐकात्म्य का अनुचिन्तन करता हुआ, जो व्युत्थान समझा जाता है उस अवसर पर भी समाधि आनन्द से अभिन्न ही रहता है। ऐसे अन्त:स्वरूप क्रममुद्रा द्वारा साधक बर्हिमुख होने पर भी समावेश की दशा में बना रहता है।[108] क्रममुद्रा में पहले आवेश के प्रभाव से बाहर से भीतर की ओर चेतना का प्रवेश होता है एवं बाद में भीतर से बाहर की ओर। इस तरह मुद्राक्रम सबाह्याभ्यन्तर दो प्रकार का है। इससे तात्पर्य यह है कि सृष्टि-स्थिति-संहाररूपी क्रम को आत्मसात् कर लेने वाली क्रममुद्रारूपी चिति, जो पूर्णाहन्तारूपी तुरीया है, उसके अनुभव द्वारा विषयों में लगे रहने पर भी समाविष्ट ही रहता है अर्थात् वह बाह्य विषयों को साक्षात् शक्ति का ही स्फार समझते हुए भ्रमित नहीं होता।

समाधि लाभ

इस नित्योदित समाधि से कोई लाभ भी होता है या नहीं, क्योंकि शुरू में कहा गया है कि सभी आनन्द (मुक्ति) को चाहते हैं, जो शाश्वत रहने वाला हो ? इस सिद्धान्त में परमानन्द शिवत्व प्राप्ति में बताया गया है, जो अपना यथार्थस्वरूप है। अत: उसकी प्राप्ति समाधि से होती है या नहीं ? इसी बात को स्पष्ट करते हुए परमविद्वान् क्षेमराज प्रतिपादित करते हैं कि- क्रममुद्रा सिद्धि के पश्चात् प्रकाश और आनन्द के सार, महामन्त्रवीर्यरूप पूर्णाहन्ता में समावेश होने से, अपने उस संवित् देवता के शक्तिचक्र पर आधिपत्य प्राप्त हो जाता है, जो समूह सारे विश्व की सृष्टि और संहार करता है- ऐसी दशा शिवत्व प्राप्ति की है।[109] अर्थात् जीवन का

---

107. "समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूय: चिदैक्यामर्शात् नित्योदितसमाधिलाभ:।" -प्र० हृ०, सू० 19, पृ० 85
108. "क्रममुद्रया अन्त: स्वरूपया बहिर्मुख: समाविष्टो भवति साधक:।" -तदेव, पृ० 86
109. तदा प्रकाशानन्दसारमहाभन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारि-निजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम्। -प्र० हृ० सू० 20, पृ० 89

परमोत्कृष्ट लक्ष्य यही है। तात्पर्य यह है कि सदा प्रकट रहने वाली समाधि के प्राप्त होने पर चिदाह्लादरूपी धन वाली, सब मन्त्रों का जीवन स्वरूप, पराभट्टारिकरूप, सहज स्वात्मरूपी जो चमत्कार है, उसमें समावेश होने से कालाग्नि से लेकर चरमकला पर्यन्त विश्व का जो विचित्र सृष्टि-प्रलय है, उसका करने वाला जो अपना संविद्देवता समूह है, उस पर ऐश्वर्य प्राप्ति हो जाती है। प्रकाश और आनन्द का सार कहने से तात्पर्य है- इस विश्व में जो भी संवेद्य (प्रमेय) है, उसका स्वरूप संवेदन है और उसका भी अन्तर्मुखी चेतनास्वरूप आत्मा प्रमाता है। उसका भी सदाशिवेश्वरता सार है, क्योंकि उनका देहादि उपाधि में संकुचित तादात्म्य दूर हो गया होता है, जो उस समस्त विश्व के चमत्कार से परिपूर्ण है, जो प्रकाश के साथ एक सद्भाव से घटित होता है। वास्तव में उस पारमार्थिक प्रकाश के बिना कोई भी वस्तु प्रकाशित नहीं हो सकती। वह परम शिव आनन्द के प्रसार से परिपूर्ण है, क्योंकि वह स्वातन्त्र्य का सार है, सब आकाक्षाओं से रहित एवं 'अ' से लेकर 'क्ष' तक अमायीय शब्द-राशि की स्मृति के कारण आत्मसात् किये हुए समस्त वाच्यवाचकमय अखिल जगद्रूपी आनन्द के ऐकात्म्य से सम्पन्न होने से सर्वथा परिपूर्ण है। इसलिए समस्त विश्व एकमात्र उसी में ठहरा हुआ है। [110]

महामन्त्रशक्तिरूपी पूर्णाहन्ता में समावेश कहने से तात्पर्य है- उस स्थिति की दृढ़ता से देह, नील इत्यादि प्रमेयों को पूर्णाहन्ता के रस में निमग्न कर तन्मय कर देना। देह आदि से जो कुछ आभासित हो रहा है या जो कुछ भी बुद्धि द्वारा निश्चय किया जा रहा है, चित्त के द्वारा स्मरण किया जा रहा है इन सब की भूमिका में एकमात्र भगवती चितिशक्ति का ही स्फुरण हो रहा है। [111] उसके स्फुरण के बिना किसी की भी सत्ता नहीं रह सकती। [112] केवल उसी प्रकार स्फुरण करती हुई भी वह अपनी माया शक्ति के माध्यम से, जो देहादि अवभासित हो रहे हैं, उनके प्रभाव से वैसे ही मान लेने के कारण भिन्न-भिन्न स्वभाववाली प्रकाशित होती हुई माया प्रमाताओं द्वारा ज्ञान, संकल्प, अध्यवसाय आदि रूप में मानी जाती है। यथार्थ में वह चिति शक्ति एक ही है। [113] इस प्रकार सभी अवस्थाओं में वही एक चितिशक्ति

110. तत्र यावत् इदं किञ्चित् -- आनन्दप्रसर निर्भरः। -प्र० हृ०, पृ० 90, पृ० 92
111. "देहसुखनीलादि यत् किञ्चित् प्रथते, अध्यवसीयते, स्मर्यते, संकल्प्यते वा, तत्र सर्वत्रैव भगवती चितिशक्तिमयी प्रथा भित्तिभूतैव स्फुरति।" -प्र० हृ० टी०, सू० 20, पृ० 94-95
112. "तदस्फुरणे कस्यापि अस्फुरणात्।" -तदेव, पृ० 95-96
113. ई० प्र० भा० 1, 1-7-1 तथा 1-5-18, प्र० हृ० टी०, पृ० 96

ही है, जो प्रकाशित होती हुई यदि अनुप्रवेश एवं दार्ढ्य की युक्ति से प्राप्त होती है, तब उसमें प्रवेश होने से पूर्वकथित विधि से, इन्द्रियों के खोलने एवं बन्द करने के क्रम से– सब कुछ चितिमय होने के कारण सब के संहार आदि में भी सदैव सृष्टि और संहार करने वाला जो सहज ज्ञानरूपी देवता का समूह है अर्थात् जो कुछ भी अमायीय आन्तर और बाह्य इन्द्रियों का प्रभापुञ्ज है, उन सब पर परमयोगी को ईश्वरता या भैरवात्मता प्राप्त हो जाती है। [114]

राजानक क्षेमराजानुसार जो देह प्राण सुखादि से प्रतिक्षण अभिभूत जीव, पूर्णानन्दघन स्वरूप एवं महेश्वरस्वरूप अपनी आत्मा इस चिति को नहीं जान पाता है, परन्तु इस वर्णित उपदेश से ज्ञानरूपी अमृत–सिन्धु में विश्व को चारों ओर फैली हुई उसकी झाग, राशिमात्र देखता है, वह साक्षात् शिव ही कहा जाता है। [115] तात्पर्य यह है कि जिस तरह समुद्र से उसकी फेन भिन्न नहीं अपितु उसी का विकारमात्र है – पारमार्थिकरूप से जल ही है, उसी तरह प्रकाशरूप परमशिव की प्रकाशता का ही रूपमात्र यह समस्त विश्व है। प्रकाश और प्रकाशता पृथक् नहीं किये जा सकते, जिस तरह अग्नि से उष्णत्व या जल से शीतलत्व, अपितु अभेदरूप ही होते हैं। व्यवहारमात्र के लिए प्रकाश–प्रकाशता शब्द प्रयुक्त होते हैं, पारमार्थिकरूप से तो एक ही तत्त्व होता है। अतः जो परमशिव एवं विश्व को इसी पारमार्थिक दृष्टि से देखता है, वह साक्षात् शिव ही होता है। इस तरह इस ग्रन्थ में एकमात्र परमशिव अथवा तदभिन्नस्वरूपा पराभट्टारिका भगवती पराशक्ति ही सब कुछ है, यह प्रतिपादित किया गया है और परमानन्द लाभ या परमोत्कृष्ट लक्ष्य इसी शिवशक्ति की पहचान करना कहा गया है, जो चितिरूपी अपनी आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। अतः सब को इसी का अनुचिन्तन, मनन, अभ्यास करना चाहिए, जिससे जीवन सफल हो जाये। क्षेमराज अनुसार जिनको शंकर का शक्तिपात हो गया है, परन्तु अभ्यास न होने के कारण जो ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा में प्रतिपादित तर्कप्रधान सिद्धान्त को जानने में असमर्थ हैं, उनके लिए यह रहस्य सहजसाध्य रूप में कहा गया है। [116] ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा

---

114. "यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा –– ततश्चक्रेश्वरो भवेत्।" –स्पन्द का० 4, 21

115. "देहप्राणसुखादिभिः –– विश्वं –– साक्षात्स एकः शिवः।" –प्र० हृ०, पृ० 99

116. "येषां वृत्तश्शाङ्करश्शक्तिपातो –– तत्त्वोपदेशः।" –प्र० हृ०, पृ० 100

से तात्पर्य उत्पलाचार्य की महान् कृति के साथ-साथ यह भी हो सकता है- 'परमशिव की पहचान' करने में जो सूक्ष्म बुद्धि, शास्त्र-पठन, योग-साधना आदि आदि से न सम्पन्न होने से अपने आपको परमलाभ की प्राप्ति में असमर्थ मानते हैं, उनके लिए सहज साध्य उपदेश इस ग्रन्थ में दिया गया है, जिससे बिना किसी कठोर साधना के वे इसमें कहे हुए उपदेश का मननमात्र करने से सफल हो सकते हैं।"[117]

---

117. (क) "प्राणायाममुद्राबन्धादिसमस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनेन सुखोपायमेव हृदय-निहितचित्तः -- आसादयति। -तदेव पृ० 75-76

(ख) "यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः।" -तदेव, पृ० 99

चतुर्थ - अध्याय

वेदान्तसार में सामग्री

भारतीय संस्कृति में वेदों को ज्ञान की महान् निधि माना जाता है तथा जीवन के संसृति चक्र से छुटकारा दिलाने के लिए अद्वैत वेदान्त में ज्ञान को परमोत्कृष्ट माना जाता है।[1] परन्तु वेद सर्वसाधारण के बोधागम्य नहीं हैं, दूसरे उनके सम्यक् अध्ययन के लिए पहले वेदांगों, पुराणों इत्यादि का परिज्ञान होना आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि समय और कुशाग्र-बुद्धि आदि की दृष्टि से वेदों से ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन पड़ता है। इसी बात को सम्मुख रखते हुए महर्षि वेद व्यास ने उन पर ब्रह्मसूत्र लिखे एवं शंकरचार्य प्रभृति विद्वानों ने उन पर भाष्यादि लिखे, परन्तु फिर भी सर्वसाधारण की समस्या पूर्णतया समाप्त नहीं हुई। इसी दृष्टि को सामने रखकर परमहंस परिव्राजकाचार्य सदानन्द योगी ने वेदों के उत्कृष्ट भाग उपनिषदों के ज्ञान को साररूप में दोहन कर जगत्-कल्याणार्थ 'वेदान्तसार' एक लघु ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें सरल एवं सुबोध शैली के माध्यम से उपनिषदों के ज्ञान की अजस्रधारा को सामान्यजनलंघ्य बनाया गया है। इसी से ग्रन्थ की महत्ता एवं रचयिता की ज्ञानराशि तथा विद्वत्ता का पता चलता है। ऐसे महापुरुष के जीवनवृत्त की अधूरी जानकारी होना लज्जास्पद ही है। नरहरि योगी ने शक संवत् 1510 में इस ग्रन्थ पर 'सुबोधिनी' नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। इस तरह यदि इस टीका का समय 1588 ई. माना जाये, तो सदानन्द का काल इससे लगभग 50-60 वर्ष पूर्व का हो सकता है।[2] नरहरि के एक अन्य विवरण से अनुमान लगाया जाता है कि वे उसके गुरु के गुरु थे।[3] "विद्वन्मनोरञ्जिनी" और "बालबोधिनी" क्रमशः स्वामी रामतीर्थ और आपदेव द्वारा इस पर लिखी टीकायें भी महत्त्वपूर्ण हैं।

---

1. "ज्ञानात् सिद्धयति मुक्तिः।" -अमन० यो० 2/5, भ० गी० 4-38, पं० द० 6-210
2. "जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां--चकारोज्ज्वलाम्।" -वे० सा०भू०, पृ० 4
3. "इयता प्रबन्धेन प्रतिपादिसे -- सदानन्दयोगीन्द्रेण महापुरुषेण।" -तदेव

अधिकारी निर्णय

जिस प्रकार भैंस के आगे बीन का कौशल्य दिखाना अनुपयुक्त ही है, उसी प्रकार सांसारिक मोहजाल में फँसे रहकर कोई आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता। जैसे अधिक धान प्राप्त करने के लिए अपने पास का रखा हुआ थोड़ा धान भूमि को दान करना पड़ता है अर्थात् उसका त्याग करना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि पहले अधिकारी बनना पड़ता है, फिर कहीं अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए सदानन्द ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि यह लघु कृति उपनिषदों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों के अनुरूप ही लिखी गई है, अतः इसमें वर्णित बातों से यथार्थ लाभ उठाने के लिए, इस ज्ञानामृत को प्राप्त करने का उचित अधिकारी होना परमावश्यक है।[4]

अन्यथा वन में रुदन करने की तरह अभीष्ट लाभ होना असम्भव है। साधक को अपने जीवन के चरमलक्ष्य ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए सबसे पहले वेद, वेदांग इत्यादि सद्शास्त्रों का श्रद्धाभक्तिपूर्वक एवं शास्त्रीय नियमों सहित सम्यक् अध्ययन करना चाहिए, जिससे उनमें उपवर्णित तात्पर्य का यथार्थबोध समझ में आ जाता है।[5] क्योंकि जब तक अपने लक्ष्य का ही ज्ञान नहीं, इधर-उधर ढूँढ़ने से क्या लाभ हो सकता है ? जब तक राग-द्वेष से निवृति न हो, हृदय तरह-तरह की शुभाशुभ कामनाओं से भरा रहता है और जिस तरह जल में अपने साफ प्रतिबिम्ब देखने के लिए उसकी अशुद्धियों का दूर हो जाना वाञ्छित होता है, उसी तरह सम्यक् ज्ञान के लिए हृदय का निर्मल होना अत्यावश्यक एवं प्रारम्भिक योग्यता है। अतः कामनाओं के घर स्वर्गादि की इच्छा वाले काम्य एवं अधःपतन करने वाले ब्राह्मण-हत्यादि निषिद्ध कर्मों का त्याग करना चाहिए। वैसे भी नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्, एवं उपासना आदि से चित्तशुद्धि होने से अन्तःकरण स्वच्छ हो जाता है। इनके अतिरिक्त नित्य एवं अनित्य वस्तुओं का विचार करना भी लाभदायक है, जिससे एकमात्र सत्-वस्तु ब्रह्म में प्रीति होती है और मिथ्या वस्तु जगत् प्रपञ्च से लगाव दूर हो जाता है। लौकिक-पारलौकिक भोगों में अनास्थारूप वैराग्य एवं शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा सहित मोक्ष की इच्छादि गुणों से भी सम्पन्न होना चाहिए। उपर्युक्त गुणों से युक्त साधक ही वेदान्त ज्ञान का लाभ उठा सकता

---

4. "वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।" –वे० सा० 3, पृ० 2
5. "अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेन।" –तदेव 4, पृ० 3

है।[6] परन्तु इन गुणों से सम्पन्नता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत् योग्य, ब्रह्मनिष्ठ, श्रोत्रिय, गुरु की प्राप्ति भी महत्त्वपूर्ण विशेषता है।[7] क्योंकि साक्षात् अनुभव के आधार पर अनेक शंकाओं का समाधान एवं सम्यक् स्वरूप-ज्ञान कराने के लिए वे ही समर्थ होते हैं। अतः ऐसे महापुरुष से लाभान्वित होने के लिए विनम्रता, भक्ति, सेवाभाव आदि आवश्यक है। ऐसे शिष्य को गुरु अध्यारोपापवाद न्याय से जगत् का निरास कराकर एकमात्र ब्रह्म का ज्ञान करा देते हैं।[8]

अध्यारोपापवाद

'अधिकारी निर्णय' के अन्तर्गत वर्णित किया गया है कि योग्य शिष्य को ब्रह्मनिष्ठ गुरु अपनी साधना एवं ज्ञान के बल से अध्यारोप एवं अपवाद न्याय से नित्यानित्य वस्तु का विवेक कराकर सम्यक् ज्ञान करा देता है। यह नित्य वस्तु और कुछ नहीं एकमात्र ब्रह्म ही है, जो सत्, चित्, आनन्द, अनन्त, अद्वयरूप है।[9] सत् इसलिए है कि इसकी सत्ता नित्य है, जड़ न होने से चित् है, स्वरूपविश्रान्ति होने से आनन्दरूप एवं द्वितीय न होने से अद्वयरूप है। उसके अतिरिक्त जो भी कुछ है, वह अज्ञान या तज्जन्य होने से मिथ्या है, क्योंकि उसमें उपर्युक्त बातें उपपन्न नहीं होतीं। अतः वह भ्रममात्र होने से अवस्तु (अनित्य, जड़) ही होती हैं।[10] जीव एकमात्र चैतन्य वस्तु ब्रह्म में अज्ञानवश भासित होने वाले जगत्-प्रपञ्च को सत्य मानकर बन्धन में फँसा रहता है ओर कष्ट उठाता है, जिस प्रकार अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को भ्रमवश साँप समझने से व्यक्ति भयादि मानता है। इसी प्रकार एक सत् वस्तु में दूसरी वस्तु (अवस्तु) का भ्रम होना ही, 'अध्यारोप', विवर्त या अध्यास नाम रो संज्ञित किया जाता है।[11]

परन्तु स्वयं या अन्य व्यक्ति द्वारा प्रकाश करने से जैसे रस्सी को साँप समझकर डरने वाले व्यक्ति का भ्रम जाता रहता है और तज्जन्य भयादि भी दूर हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उसका रस्सी का यथार्थ ज्ञान होने से भ्रम जाता रहता

---

6. "अधिकारीतु -- काम्यनिषिद्धवर्जन -- प्रमाता।" -वे० सा० 4, पृ० 3
7. "श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य।" -तदेव 5, पृ० 13
8. "यस्य देवे परा भक्तिः -- ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।" -श्वेत० उप० 6-23
9. "वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म।" -तदेव 6, पृ० 14
10. "अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु।" -तदेव
11. "असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।" -वे० सा० 6, पृ० 14

है, इसी प्रकार एकमात्र सत् वस्तु ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान होने से उसमें आभासित होने वाले अज्ञान का परिवार सहित नाश हो जाता है अर्थात् जगत् मिथ्या प्रतीत होने लगता है और ब्रह्म ही शेष रह जाता है। इस प्रकार किसी वस्तु के भ्रमवश हुए अज्ञान को पर्यवसित करना ही 'अपवाद' नाम से अभिहित किया गया है। [12]

अध्यारोप 'परिणाम' या विकार को नहीं कहते हैं, अपितु यह उससे पूर्णतया भिन्न प्रकृति का है। जब किसी वस्तु का परिणमन होता है, तो वह एक और वस्तु बन जाती है, जिसमें पहल वस्तु के गुण भी सूक्ष्मरूप से संक्रमित हो जाते हैं– जैसे दूध से दही बनने पर होता है। परन्तु विवर्त में वस्तु बदलती नहीं और न ही उसके गुणों में ही कोई परिवर्तन आता है। [13] प्रत्युत् भ्रमवश उसमें तत्-तत् प्रतीति होती है, जिसका निरसन करने पर वह पुनः पहले रूप में भासित होने लगती है– जैसे रस्सी को भ्रमवश साँप समझने से वह साँप नहीं बन जाती और न ही उसके रज्जुत्व में कोई अन्तर ही आता है, प्रत्युत् मिथ्या प्रतीति के करण साँप समझने से तद्-विषयक् गुणों का स्मरण होने से भयादि संचरित होते हैं। परन्तु जब उसका प्रकाश के द्वारा यथार्थ रस्सीरूप में ज्ञान हो जाता है, तो भयादि दूर हो जाते हैं। अतः जगत् ब्रह्म का विकार नहीं, अपितु विवर्त ही है। जब सम्यक् ज्ञान से विवर्त का कारण दूर हो जाता है, तो एकमात्र सद्वस्तु ब्रह्म ही सत्य भासित होने लगता है। अतः ब्रह्म ही सत्य है।

अज्ञान निरूपण

अज्ञान के कारण ही असद्वस्तु की सत्य प्रतीति होती है एवं समस्त जगत्-प्रपञ्च का एकमात्र यही कारण माना जाता है और इसके नाश होने से ही मुक्ति मिलती है। सदानन्द ने इसका सम्यक् निरूपण करते हुए इसे अनिर्वचनीय बताया है, क्योंकि इसको न तो सत् ही कहा जाता सकता है, ब्रह्मज्ञान होने से इसका निरसन हो जाता है अन्यथा मुक्ति सम्भव नहीं हो सकती। परन्तु इसका स्पष्ट अनुभव होने से एवं इससे प्रपञ्च के आभासित होने से इसको असत् भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिए न सत् और न असत् होने से इसको अनिर्वचनीय कहा गया है। इसकी सत्ता होने से और सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों से सम्पन्न होने से

12. "अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य -- वस्तुमात्रत्वम्।" -तदेव 21, पृ० 63
13. "सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकारइत्युदीरितः। अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।" -तदेव

इसको त्रिगुणात्मक भी कहा जाता है। अतः यह माया या प्रकृति का पर्यायवाची है। परन्तु ऐसे गुणों से युक्त होने पर भी इसे ज्ञानविरोधी कहा है। जैसे प्रकाश के सान्निध्य से अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान होने पर अज्ञान का भी नाश हो जाता है। ऐसा होते हुए भी यह अभावरूप नहीं, क्योंकि जब व्यक्ति कहता है "मैं अल्पज्ञ हूँ" या 'कुछ नहीं जानता' तो इसमें भाव की प्रतीति होती है। अतः यह भावरूप होते हुए भी 'यत्किञ्चित्' रूप ही है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कह सकते– 'यही है या ऐसा ही है। [14]

इस अज्ञान के समष्टि एवं व्यष्टि अज्ञान के भेद से दो प्रकार माने गये हैं। [15] जिस प्रकार विविध तरह के अत्यधिक वृक्षों के समूह को 'वन' कहा जाता है एवं नदी, पोखर, तालाब आदि पृथक्-पृथक् स्रोतों के जलों को सामूहिक रूप से 'जलाशय' कहते हैं, उसी तरह पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हुए प्रत्येक जीवगत अज्ञानों के लिए 'अज्ञान' शब्द एकत्व (समष्टि) की विवक्षा से प्रयुक्त होता है। [16] श्रुति में भी 'अजामेकाम्' अर्थात् वह अज्ञान एक ही है– ऐसा कहा गया है। [17] यह समष्टि अज्ञान ईश्वर चैतन्य की उपाधि कही गई है। [18]

इसी तरह जब वन में एक-एक वृक्ष का पृथक्-पृथक् ज्ञान अपेक्षित होता है, तब अनेकत्व की विवक्षा से 'वृक्ष' व्यवहार होता है एवं जलाशय में भिन्न-भिन्न स्रोतों के जल की अनेकत्व विवक्षा से 'जल' कहा जाता है, इसी तरह जीवगत अहंकार आदि के कारणभूत अज्ञान को पृथक्-पृथक् (व्यष्टि) रूप में 'अनेक अज्ञान' का बहुत्व व्यवहार होता है। [19] श्रुति में भी ऐसा कहा गया है। [20] यह व्यष्टिरूप अज्ञान जीव की उपाधि मानी जाती है। [21]

परन्तु जैसे मिट्टी का ढेर सामूहिकरूप में भी एवं घट खिलौना, कटोरा आदि विविध रूपों में भी एक मिट्टी ही होती है, उसी प्रकार वही एक अज्ञान

---

14. "अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्।" –वे॰ सा॰ 6, पृ॰ 14
15. "इदमज्ञानं समष्टिव्यष्टयभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते।" –वे॰ सा॰ 7, पृ॰ 18
16. "यथा वृक्षाणां समष्टयभिप्रायेण वनम् –– तदेकत्वव्यपदेशः।" –वे॰ सा॰ 7, पृ॰ 18
17. "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।" –श्वेत॰ उप॰ 4-5
18. "इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना।" –वे॰ सा॰ 7, पृ॰ 18
19. "यथा वनस्य व्यष्टयभिप्रायेण वृक्षा –– तदनेकत्वव्यपदेशः।" –तदेव, पृ॰ 18-19
20. "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते।" –ऋ॰ वे॰ ऋ॰ 6-47-18
21. "इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना।" –तदेव, पृ॰ 19

सामूहिकरूप से दृश्यमान् समस्त प्रपञ्च का कारण है एवं पृथक्-पृथक् जीव के अहंकार आदि का भी हेतु है। इसीलिए व्यापकतापेक्षा से व्यष्टि-समष्टि व्यवहार किया गया है अर्थात् अज्ञान एक ही है।[22] इस अज्ञान की 'आवरण'- जो स्वस्वरूप को छिपाती है तथा 'विक्षेप'- जो भिन्नत्व (अनेकत्व) का आरोप करती है - नाम की दो शक्तियाँ कही गई हैं।[23] जैसे एक छोटा सा मेघ-खण्ड आँखों के समक्ष आकर कई योजन फैले हुए सूर्य को भी द्रष्टा की दृष्टि से ओझल कर देता है एवं वह स्पष्ट दिखाई नहीं देता। क्योंकि अन्धकार छा जाता है, जिससे प्रतीत होता है कि सूर्य है ही नहीं, वैसे ही अज्ञान अति परिच्छिन्न होने पर भी ऐसी सामर्थ्य वाला है, जिससे जीव की बुद्धि के आगे अपना भ्रमरूपी पर्दा डालकर अपरिमित एवं मुक्तस्वरूप आत्मा को उसके दृष्टि पटल से अदृश्य कर देता है।[24] यथार्थ में आत्मा समस्त बन्धनों से सर्वथा परिमुक्त नित्योपलब्धिस्वरूप एवं सतत प्रकाशशील रहता है। इसी शक्ति से उपहित हुआ आत्मा अपने आप को सांसारिक विषयों का कर्ता, भोक्ता एवं मोह से सुखी-दुःखी तुच्छ आदि समझता है, वैसे वह न कर्ता है, न भोक्ता आदि। परन्तु जैसे रस्सी में भ्रम से सर्पाभास होने से भयादि का संचार होता है, उसी तरह अज्ञानवश आत्मा जड़त्व की गर्मी-सर्दी को अपनी मानकर दुःखी सुखी होता है।[25] इस तरह ज्ञाता की बुद्धि में भ्रम पैदा करके सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप को अज्ञात रखने वाली अज्ञान सामर्थ्य को ही आवरण शक्ति कहा गया है।

इस प्रकार रस्सीरूप का छिप जाना आवरण शक्ति का कार्य हुआ, परन्तु जो शक्ति उसमें सर्प का भ्रम पैदा कराकर भयादि का संचार कराती है, उसी को विक्षेप शक्ति कहा गया है। यही शक्ति ब्रह्मा से जड़ पर्यन्त समस्त प्रपञ्च को एक आत्मा में अनेकरूपों से उद्भासित कर देती है।[26]

ईश्वर-चैतन्य

एकमात्र शुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म ही सत्य है और आनन्दघन स्वरूप होने से उसे किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं। क्योंकि अपेक्षा तो सदा अपूर्ण को ही रहती है। तो

---

22. "अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः।" -तदेव
23. "अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्।" -तदेव 10, पृ० 29
24. "आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपिमेघो -- तादृशं सामर्थ्यम्।" -तदेव
25. "अनयैवावरणशक्तया -- कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्छ -- सम्भावना।" -वे० सा० 10, पृ० 29
26. "विक्षेपशक्तिस्तु तथा रज्जवज्ञानं -- तादृशं सामर्थ्यम्।" -तदेव

फिर जगत्-प्रपञ्च का नाटक किसके नियन्त्रण में चलता है, जीवों के पाप-पुण्य अनुसार फल कौन देता है ? क्योंकि बिना नियन्त्रण के किसी वस्तु की सत्ता का बने रहना मुश्किल है तथा अपने आपको कोई भी बन्धन में डालना नहीं चाहता। इसलिए किसी सर्वोपरि सत्ता का होना अनिवार्य है और वह होनी भी ब्रह्म से सम्बन्धित ही चाहिए, क्योंकि वह अद्वय है। इस जिज्ञासा पर सदानन्द कहते हैं कि समष्टि अज्ञान (माया) से चैतन्य जब उपहित हो जाता है, तो उसमें विशुद्ध सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है। परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि रजस् और तमस् लोप हो जाते हैं, प्रत्युत् वे भी विद्यमान होते हैं। परन्तु इतनी क्षीण अभिव्यक्ति से कि सत्त्व गुण ही प्रभुत्वशाली रहता है। माया की इस उत्कृष्ट उपाधि से युक्त चैतन्य को 'ईश्वर' कहा जाता है। वह सर्वज्ञ होता है, क्योंकि समस्त प्रपञ्च में व्यापक रहकर साक्षीरूप से सब कुछ जानता है। उसे 'सर्वेश्वर' भी कहा जाता है, क्योंकि समस्त जीवों के शुभाशुभ कृत्यों के अनुरूप ही फलादेश का प्रबन्ध करता है। सभी जीवों के हृदय में रहकर बुद्धि आदि का एवं सकल ब्रह्माण्ड की वस्तुओं का उचित नियमन करने से 'सर्वनियन्तृ' कहा जाता है। परन्तु इन गुणों से सम्पन्न होकर भी प्रायः प्रत्यक्ष का विषय न होने से 'अव्यक्त' भी है। उसकी सत्ता से ही जगत् की सत्ता होती है। अतः जगत् का कारण होने से भी ईश्वर कहा जाता है। एवं समष्टि अज्ञान भी उसकी प्रकाशता से ही प्रकाशित होता है, क्योंकि यदि आधार ही न हो तो भवन निर्माण आदि कहाँ पर होगा या रस्सी ही न हो तो सर्पत्व का भ्रम उसमें कैसे होगा ? अतः रूप अज्ञान की सत्ता भी सत्य वस्तु पर ही अवलम्बित है।[27] चूँकि समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति में उसकी समष्टि उपाधि (अज्ञान) ही हेतु है, अतः वह "कारण शरीर" भी कहा जाता है। इसमें आनन्द की बहुतायत होती है एवं यही समष्टिभूत अज्ञान आत्मा को ऐसे छुपाये रखता है, जैसे कोई वस्तु कोश से आवृत हो जाती है। अतः इसे "आनन्दमय-कोश" कहा जाता है। जिस प्रकार जाग्रत्-स्वप्न दशा का सुषुप्ति में पर्यवसान हो जाता है। उसी तरह सबसे परम होने से ईश्वर को "सुषुप्ति" अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च का "लय स्थान" कहा गया है।[28]

---

27. "एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसेर्वश्वर -- सकलाज्ञानावभासकत्वात्।"
—वे० सा० 7, पृ० 18

28. "ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् -- लयस्थानिमिति चोच्यते।" —तदेव

मुण्कोपनिषद् में भी कहा गया है कि यह सगुण ब्रह्म (ईश्वर) 'सर्वज्ञ' है अर्थात् घट-घट में व्यापक होने से वह सब वस्तुओं को सामान्यरूप से भी जानता है और 'सर्ववित्' होने से किसी भी वस्तु की विशेषता उससे छुपी नहीं। उसका ज्ञानमय होना ही मानो उसका तप है और उसी से यह नामरूपादि वाला जगत् प्रपञ्च अवभासित होता है। [29]

सूक्ष्मशरीरों की समष्टियुक्त चैतन्यात्मा को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ या प्राण कहा गया है। वह इन सब में माला में सूत्र की भाँति विद्यमान है और विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय कोशों से युक्त होने के कारण ज्ञान, इच्छा तथा क्रियाशक्ति से सम्पन्न है। इसकी यह समष्टि स्थूल प्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म होती है, अतः सूक्ष्म शरीर एवं विज्ञानमयादि कोशत्रय तथा विराट् रूप में अनुभूत स्थूलप्रपञ्च विषयक वासनामय होने के कारण स्वप्न दशा वाला होने से स्थूल प्रपञ्च के 'विलय का स्थान' कहलाता है। [30] यह स्वप्नावस्था में सूक्ष्म मनोवृत्तियों द्वारा वासनामय शब्दादि विषयों का अनुभव करता है। [31]

स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य को वैश्वानर, विराट् कहते हैं, क्योंकि सब प्राणियों में 'मैं' इस अभिमान से विभिन्न तरह से सुशोभित है। अज्ञान की स्थूल शरीरों की समष्टि को स्थूल-शरीर कहते हैं। यह माता-पिता के खाये हुए अन्न से उत्पन्न होता है, अतः अन्नमय, आत्मा का आच्छादक होने से कोश, सुख-दुःखादि के भोग का आधार होने से भी स्थूल शरीर तथा इन्द्रियों के द्वारा विषयों को सेवन करने से जाग्रत् कहा जाता है। [32]

इस जाग्रत् दशा में वैश्वानर दिक्, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनीकुमार देवताओं से नियन्त्रित क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन पाँच इन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का, एवं अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम, प्रजापति द्वारा नियन्त्रित क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन्द्रियों से क्रमशः बोलना, लेना, चलना, मलत्याग और आनन्द का चन्द्र, ब्रह्मा, शंकर तथा विष्णु द्वारा नियन्त्रित क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्तरूपी चार अन्तरिन्द्रियों

29. मुण्ड० उप० 1-1-9
30. "एतत्समष्ट्युपहितं -- चोच्यते।" -वे० सा० 14, पृ० 41
31. "एतौ -- अनुभवतः।" -तदेव
32. "एतत्समष्ट्युपहितं -- व्यपदिश्यते।" -तदेव० 17, पृ० 47

से क्रमशः संकल्प, निश्चय, अभिमान और स्मरणरूपी समस्त स्थूल विषयों का अनुभव करता है।[33] माण्डूक्योपनिषद् में भी ऐसा ही उल्लेख है।[34]

प्राज्ञ (जीव) चैतन्य

ईश्वर के निरूपण से जिज्ञासा उठती है कि वह शासन किसका करता है ? क्योंकि जगत् का शासन करता है इससे शंका समाधान नहीं होती। प्रत्यक्ष अनुभव साक्षी है कि चैतन्ययुक्त वस्तु का ही नियन्त्रण आदि होता है। मिट्टी के घोड़े को चाहे कितना डाँटो – वह खाक चलेगा ? पशु-पक्षी-वृक्षादि से भी जब चेतना लुप्त हो जाती है, तो वह जड़ के समान पड़े रहते हैं अर्थात् उनका बढ़ना-फूलना आदि स्वतः बन्द हो जाता है। मोटर, पँखा, राकेट आदि का नियमन चेतन व्यक्ति द्वारा ही होता है और वे सतत स्वतः वैसी दशा में नहीं रह सकते अर्थात् उनका चलना आदि चेतन के कारण चेतन का ही है। अतः वह शासित वस्तु भी अवश्य चेतन ही होगी और शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होगी। अतः सदानन्द कहते हैं कि व्यष्टि अज्ञान (अविद्या) से उपहित हो जाने पर चैतन्य को प्राज्ञ (जीव) कहा जाता है, जो ईश्वर के विपरीत रजस-तमस् प्रधान होने से निकृष्ट हो जाता है, क्योंकि सत्त्व की प्रधनता लुप्त होने से सर्वज्ञता आदि गुण उसमें नहीं रहते।[35] इसीलिए इसे 'अल्पज्ञ' एवं अनीश्वर होने के कारण 'प्राज्ञ' (प्रकृष्टः अज्ञः) कहते हैं तथा यह पृथक्-पृथक् जीवगत भिन्न-भिन्न अज्ञान का ही प्रकाशक होता है अर्थात् यह अज्ञान के एक ही अंश (व्यक्ति) का ही प्रकाशक होता है।[36]

प्राज्ञ चैतन्य का अज्ञान भी सुषुप्तिकाल में अहंकारादि शरीर का उत्पादक होता है, इसीलिए 'कारण-शरीर' कहा जाता है एवं उस दशा में इन्द्रियों या उनका कोई विषय अप्रकाशित होने से राग-द्वेष से मुक्त होने के कारण आनन्द प्रधान होता है, अतः आनन्दमय है। इसी तरह प्राज्ञ को आवृत करने से कोश तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के लय का आधार होने से लयस्थान अर्थात् सुषुप्ति है।[37]

---

33. "तदानीमेतौ -- अनुभवतः।" –तदेव
34. "स्थूलभुग्वैश्वानरः।" –मा० उप० 3
35. "एतदुपहितं -- चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादि -- भासकत्वात्।" –वे० सा० 7, पृ० 19
36. "अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात्।" –तदेव
37. "अस्यापीदमहंकार -- लयस्थानमिति चोच्यते।" –तदेव

व्यष्टिरूप सूक्ष्म शरीर से उपलक्षित चैतन्य को तैजस नाम से अभिहित किया जाता है, क्योंकि वह तेजोमय (प्रकाशमय) अन्त:करण से उपहित है। इसकी भी यह व्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म-शरीर एवं विज्ञानमयादि कोशत्रय तथा विश्वचैतन्य से अनुभूत स्थूल शरीर विषयक वासनामय होने के कारण स्वप्न, इसीलिए स्थूल शरीर के लय का स्थान कहलाता है।[38] यह स्वप्नावस्था में सूक्ष्म मनोवृत्तियों द्वारा वासनामय शब्दादि विषयों का अनुभव करता है।[39] माण्डूक्योपनिषद् में भी ऐसा ही निरूपण है।[40]

स्थूल शरीरों की व्यष्टि से उपहित चैतन्य 'विश्व' कहा जाता है और सूक्ष्म शरीर का अहंकार रखता हुआ भी प्रत्येक स्थूल शरीरादि में 'मैं' इस अहंकार को रखता है। इस अज्ञान की यह व्यष्टि स्थूल शरीर, अन्न का विकार होने से अन्नमय कोश एवं जाग्रत् कही जाती है।[41]

इस जाग्रत् अवस्था में विश्व का वैश्वानर की भाँति ही अनुभव एवं नियन्त्रण होता है।[42]

समष्टि-व्यष्टि-निरूपण

ईश्वर एवं प्राज्ञ के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे दोनों आनन्दमय हैं, क्योंकि दोनों प्रलय और सुषुप्ति में बाह्य विषयों के अभाव से स्वान्त: स्वरूप का ही आनन्द लेते हैं। परन्तु आनन्द का अनुभव तो अन्त:करण और उसकी वृत्तियों से ही सम्भव है और वे ही तत्-तत् दशा में लुप्त हो गईं, तो आनन्द का अनुभव किस तरह होता है ? इस जिज्ञासा पर योगी ने कहा है कि यद्यपि उनका लोप हो जाता है, तथापि इनके समकक्ष चैतन्य प्रदीप्त अज्ञान की भी सूक्ष्म वृत्तियाँ होती हैं। इसलिए अपनी-अपनी सूक्ष्म अज्ञानवृत्तियों के माध्यम से ईश्वर तथा प्राज्ञ भी क्रमश: प्रलय एवं सुषुप्ति दशा में स्वरूपानन्द अनुभव करते हैं।[43] माण्डूक्योपनिषद् में भी 'आनन्दभुक् चेतोमुख: प्राज्ञ:' वाक्य से यही बात कही गई है।[44] वैसे भी सोकर

38. "एतत्व्यष्टयुपहितं -- चोच्यते।" -वे० सा० 14, पृ० 41
39. "एतौ० -- अनुभवत:।" -तदेव
40. "प्रविविक्तभुक्तैजसो।" -मा० उप० 4
41. "एतत्व्यष्टयुपहितं -- चोच्यते।" -तदेव पृ० 47-48
42. "तदानीमेतो -- अनुभवत:।" -तदेव
43. "तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरज्ञानवृत्ति -- अनुभवत:।" -वे० सा० 8
44. "यत्र सुप्तो न कञ्चन -- ह्यानन्दभुक्चेतोमुख: प्राज्ञ:।" -माण्ड० उप० 5

उठने के बाद व्यक्ति कहता है– "मैं बड़े सुख से सोया, मुझे कुछ दिखाई नहीं दिया" – इससे भी स्पष्ट होता है कि उस दशा में उसे चाहे दूसरी वस्तुओं का ज्ञान नहीं था, फिर भी इस बात का ध्यान था कि वह आनन्द में था।[45]

अब शंका उठती है कि यह समष्टि एवं व्यष्टि नाम से कहा जाने वाला अज्ञान तथा उनसे उपहित ईश्वर एवं प्राज्ञ क्या भिन्न-भिन्न हैं या उनमें कोई सम्बन्ध भी है। इस पर परमहंस कहते हैं कि समष्टि एवं व्यष्टि दोनों तरह के अज्ञान उसी प्रकार एक हैं जिस तरह वन एवं वृक्ष अथवा जलाशय एवं नदी आदि जल।[46] तात्पर्य यह है कि वृक्षों के समूह का ही नाम वन है और अकेले-अकेले आम, अमरूद, केला आदि की अपेक्षा से केवल अमुक-अमुक (एक) वृक्ष – तो इनमें वृक्षत्व धर्म तो समान ही है। इसी तरह समष्टि व्यष्टि व्यवहार के विरुद्ध अंशों के परिहार से 'अज्ञान' की समानता कही गई है। इसी तरह इनसे उपहित ईश्वर तथा प्राज्ञ भी उसी प्रकार एक हैं, जैसे वनगत आकाश एवं वृक्षगत आकाश या जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश एवं नदी आदि जल में प्रतिबिम्बित आकाश।[47] अर्थात् इन समष्टि व्यष्टि उपाधियों से घिरे आकाश में यद्यपि भेद मालूम होता है, परन्तु उपाधियों के परिहार में एकमात्र महाकाश ही अवशिष्ट रह जाता है। अतः स्पष्ट हुआ कि विषयनिष्ठ धर्म के कारण ही भेदता दिखाई देती है। यथार्थ में ईश्वर और प्राज्ञ एक ही है, केवल सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का ही भेद है। जब इनका परिहार कर दिया जाये, तो एकमात्र चैतन्य ही शेष रह जाता है। 'अनुभूति प्रकाश' में भी ऐसा ही प्रमाण मिलता है।[48] माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा को 'एष सर्वेश्वरः', 'एष सर्वज्ञः' आदि भी इसी समष्टि-व्यष्टि अज्ञान के अभिप्राय से कहा गया है कि यद्यपि इनमें अन्तर दिखाई देता है, परन्तु यथार्थ में अभेदता ही है।[49]

जैसे वन में विद्यमान आकाश एवं वृक्ष में विद्यमान आकाश तथा जलाशयगत आकाशप्रतिबिम्बित एवं नदी आदि जलगत आकाशप्रतिबिम्बित का आधारभूत अनुपहित महाकाश है, वैसे ही ईश्वर चैतन्य एवं प्राज्ञ चैतन्य का आधारभूत अनुपहित सर्वव्यापी विशुद्ध चैतन्य है, जिसको तुरीय चैतन्य कहते

45. "सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति।" –वे० सा० 8, पृ० 24
46. "अनयोः समष्टिव्यष्टयोर्वनवृक्षायोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः।" –तदेव
47. "एतदुपहितयोरीश्वर प्राज्ञयोरपि –– प्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः।" –तदेव
48. "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।" –अनु० प्र० 20-49
49. माण्ड० उप० 6

हैं।[50] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घट, थाली, कटोरा आदि के जल में प्रतिबिम्बित आकाश भिन्न-भिन्न आकारों के कारण भिन्न-भिन्न आकृतियों वाला लगता है, परन्तु यदि घटादि को फोड़ दिया जाये, तो उनकी उपाधि वाला आकाश महाकाश में मिल जायेगा अर्थात् भेद केवल उपाधि का है। इसी तरह ईश्वर-प्राज्ञ में उपाधियों के कारण ही भेद है और उनके हट जाने पर एकमात्र विशुद्ध चैतन्य अवशिष्ट रह जाता है, जो सब उपाधियों से रहित एवं सबसे विलक्षण है। ऐसा ही श्रुति द्वारा प्रतिपादित किया गया है।[51]

गुरु जब शिष्य को अध्यारोपापवाद न्याय से समझा देता है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, तब ब्रह्मज्ञान के उपलक्ष्य से उसे कहता है कि वह सत्य ब्रह्म ही तू है (तत्त्वमसि)।[52] सदानन्द कहते हैं कि इस श्रुति महावाक्य में 'तत्' शब्द तो तुरीय चैतन्य (ब्रह्म) का वाचक है और 'त्वम्' शब्द ईश्वर एवं प्राज्ञ आदि का। अतः इन ईश्वर, प्राज्ञ एवं तुरीय (विशुद्ध) चैतन्य की एकता प्रतिपादन करना ही 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अभिधेयार्थ होता है और ईश्वर-प्राज्ञ की अपेक्षा विशुद्ध चैतन्य की विलक्षणता उसका लक्ष्यार्थ होता है। इनमें एकत्व तथा भिन्नत्व का व्यवहार उसी तरह अभीप्सित है जैसे अग्नि में पड़े हुए अत्यधिक गर्मी से लाल बने लोहे के गोले में भारादि पार्थिवांश के रहने पर भी अग्नि के गुण दाहकताशक्तियुक्त होने से उसे अग्नि का गोला कहते हैं एवं उससे जल जाने पर 'लोहा जलाता है' ऐसा कहते हैं, जबकि जलाना तो एकमात्र अग्नि का ही गुण है और लोहे का नहीं।[53]

इस उदाहरण से दो तरह के अर्थों की प्रतीति होती है- एक तो यह कि जिस तरह अग्नि और लोहा दो पृथक्-पृथक् प्रकृति के तत्त्व हैं और उनकी एकता परस्पर अत्यन्त सामीप्य से औपचारिक मात्र है, इसी तरह तुरीय चैतन्य (ब्रह्म) और ईश्वर प्राज्ञ भी भिन्न-भिन्न प्रकृति के हैं और उनकी एकता चैतन्य के कारण औपचारिक मात्र है- जो दाक्षिणात्य शैव-सिद्धान्त के अनुरूप होता है,[54] जो

50. "वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयो -- चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते।" -वे० सा० 9, पृ० 2/7
51. "नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं -- शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यत्ते।" -माण्ड० उप० 7
52. "स य एषोऽणिमा -- स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।" -छा० उप० 6-16-3
53. "इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्य -- तप्तायः पिण्डवद् -- चोच्यते।" -वे० सा० 9, पृ० 27
54. "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।" -छां० उप० 6-2-1। इस श्रुति वाक्य का अर्थ वे इस प्रकार करते हैं- "इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दो नहीं हैं, अपितु यह है कि वे (ब्रह्म और जीव) स्वभाव (चैतन्यता) की दृष्टि से एक हैं।" स्पेशल लेक्चरज़ ऑन शैव सिद्धान्त, पृ० 36, 37 -राजानक लक्ष्मण स्वामी

भेदाभेद सम्बन्ध को द्योतित करता है। अतः पूर्ण एकत्व (अद्वैत) में बाधक है। दूसरा यह कि (यदि लोहे के उदाहरण को मात्र उपलक्षण या संकेत ही मानें) शुद्ध चैतन्य और ईश्वर-प्राज्ञ एक ही हैं, केवल उपाधियों के भेद से ही अन्तर दिखाई देता है। यदि उपाधि को हटा दें, तो एकमात्र चैतन्य शेष रहेगा। जैसे अग्नि लोहे की उपाधि से ही शुद्ध अग्नि से भिन्न प्रतीत हो रही थी, यदि उस उपाधि को दूर कर दें, तो 'अग्नित्व' ही शेष रह जायेगा। लोहे में जो जलाने का गुण था वह अग्नि के कारण ही था, अग्नि दूर (शान्त) करने पर लोहा नहीं जला सकता। इसी तरह चैतन्यता के हटने से अज्ञानोपाधि में-सर्वज्ञता-अल्पज्ञता का भी अवभासन नहीं रहता, अज्ञान तो दूर रहा। इस तरह एकमात्र चैतन्य के सत्य होने से पूर्ण अद्वैत की मान्यता ठीक दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि इसी दृष्टिकोण से सदानन्द ने कहा है– 'आत्मनः संसारकारणत्वम्'। [55]

सदानन्द कहते हैं– जिस प्रकार एक ही मकड़ी अपने तन्तुरूप कार्य के प्रति चैतन्यप्रधानता के कारण निमित्तकारण एवं अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादानकारण भी होती है, वैसे ही अज्ञानोपहित आत्मा चैतन्यप्रधानता के कारण जगत् का निमित्त कारण एवं अज्ञानप्रधानता के कारण उपादान कारण होती है। [56] तात्पर्य यह है कि जैसे मकड़ी का जड़ शरीर चैतन्यता के बिना तन्तुरूप कार्य नहीं कर सकता और शरीर के माध्यम के बिना अकेला चैतन्यांश भी वह कार्य नहीं कर सकता, अतः शरीर का भी योगदान है, परन्तु है केवल चैतन्यता की साक्षात् सम्बन्धता से – अतः चैतन्य को ही प्रधानता से निमित्त एवं उपादान कारण कहा जाता है। उसी तरह केवल एक चैतन्य ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है, जो किसी बाह्य साधन की अनपेक्षा से ही स्वतः अपनी माया शक्ति के माध्यम से जगत् रचता है। वह माया ईश्वर की ही है। अतः वह ही परम कारण माना जाता है। मुण्डकोपनिषद् में भी ऐसा ही प्रमाण मिलता है। [57]

---

55. वे० सा० 11, पृ० 31

56. "शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं -- उपादानं च भवति।" –वे० सा० 11, पृ० 31

57. मुण्ड० उप० 1-1-7

सृष्टि प्रक्रिया

आत्मा विषयक अपने मत की औपनिषदिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करके सदानन्द संसार की सृष्टि आदि विषयक समस्या का समाधान करते हैं, क्योंकि कोई इसे अणुओं का स्वतः सम्पर्क कारण मानते थे, कोई प्रकृति को ही। अतः इसके समुचित समाधान हेतु बतलाते हैं कि तमोगुण की प्रधानता एवं विक्षेपशक्ति समन्वित समष्टि अज्ञान वाला चैतन्य ही विश्व की सृष्टि आदि करता है। सबसे पहले वह पाँच– आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी – महाभूतों की रचना करता है, जो क्रम से उससे उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर भूतों को पैदा करते जाते हैं।[58] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी ऐसा ही निरूपण है।[59] आकाश आदि कार्य जड़ है, इसीलिए कारण– गुण न्याय से तमोगुण प्रधान चेतन कहा गया है। इन महाभूतों की सृष्टि के पश्चात् अपने-अपने कारण गुण के अनुसार ही उत्तरोत्तर उन आकाशादि में सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुणों की उत्पत्ति होती है। आकाशादि को अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चभूत एवं क्रमशः शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा एवं गन्ध-तन्मात्रा कहते हैं। इन अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों से ही सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति होती है।[60]

आकाशादि के सात्त्विक अंशों से क्रमशः पृथक्-पृथक् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु रसन और घ्राण इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, जिन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहा गया है। आकाशादि के सात्त्विक अंशों के परस्पर मिश्रण से ही निश्चयात्मिक वृत्ति, जिसमें स्मरणात्मिक वृत्ति चित्त का अन्तर्भाव माना जाता है तथा संकल्प-विकल्पात्मिक वृत्ति मन, जिसमें अहंकारात्मिक वृत्ति अहंकार का भी अन्तर्भाव है, पैदा होती हैं। इन चारों वृत्तियों के समूह को ही अन्तःकरण कहते हैं।[61] ये चारों ही सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होने के कारण प्रकाशात्मक हैं। ज्ञानेन्द्रियों सहित इस बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं, जिससे युक्त चैतन्य अपने आपको कर्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी मानता है और इसी कारण संसृति चक्र में पड़ता है, व्यवहार में इसी से युक्त चैतन्य जीव कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मन मनोमय कोश कहलाता है। वाक्, हस्त, पाद, पायु तथा

---

58. "तमः प्रधानविक्षेपशक्तिः -- पृथिवी चोत्पद्यते।" –वे॰ सा॰ 12, पृ॰ 35
59. तै॰ उप॰ ब्रह्मवल्ली, 1-3
60 "तेषु जाड्याधिक्य -- चोत्पद्यन्ते।" –वे॰ सा॰ 12, पृ॰ 35
61. "ज्ञानेन्द्रियाणि -- अन्तःकरणवृत्ति।" –वे॰ सा॰ 13, पृ॰ 36

उपस्थ– पाँच कर्मेन्द्रियाँ आकाशादि के रजोगुणांशों से पृथक्–पृथक् क्रम से उत्पन्न होती हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान पाँच वायु कहे गये हैं। सांख्य मत में नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय और पाँच वायु माने गये हैं– परन्तु वेदांती इन्हें पृथक् नहीं मानते– ये वायु भी पाँच महाभूतों के मिश्रित रजोगुणांशों से उत्पन्न होते हैं। प्राणादि पाँचों कर्मेन्द्रियों सहित प्राणमय कोश कहलाते हैं, जो रजोगुण के कारण क्रियात्मक है तथा ज्ञान शक्ति के कारण विज्ञानमय कर्तारूप और इच्छाशक्ति के कारण मनोमय करण रूप होता है। इन तीनों कोशों के मिलाप को ही सूक्ष्म शरीर कहते हैं।[62]

स्थूलभूतों की उत्पत्ति पञ्चीकृत महाभूतों से होती है। आकाशादि पाँचों के पहले दो–दो भाग किये जाते हैं। इस तरह बने दश भागों में से प्रथम पाँच भागों के पुनः चार–चार समान भाग किये जाते हैं। तब उन चार–चार भागों का, अपने–अपने एक–एक अर्धांशभाग को छोड़कर, एक–एक भाग (अष्टमांश) दूसरे– दूसरे चारों से मिला देना ही पञ्चीकरण कहलाता है। [63] पञ्चदशी में भी ऐसा विवरण मिलता है। [64] छान्दोग्य उपनिषद् का त्रिवृत्करण [65] भी आकाश और वायु से संयुक्त पञ्चमहाभूतों के पञ्चीकरण का उपलक्षण ही है, विरोधी नहीं। यद्यपि इन पाँचों में पाँचों के भाग मिले होते हैं, तथापि प्रत्येक महाभूत में अपना–अपना अंश ही अधिक होता है, इसीलिए आकाशादि व्यवहार होता है एवं इस आधिक्य के कारण ही अपने–अपने गुणों के अनुरूप ही उनका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए पञ्चीकृत आकाश में शब्द, वायु में शब्द–स्पर्श, अग्नि में शब्द–स्पर्श–रूप, जल में शब्द–स्पर्श–रूप–रस तथा पृथ्वी में शब्द–स्पर्श–रूप–रस तथा गन्ध गुण उत्तरोत्तर अपने–अपने कारणों के अनुरूप स्पष्ट अनुभव होते हैं। [66]

इन पञ्चीकृत महाभूतों से, भूः भुवः, स्वः महः, जनः, तपः एवं सत्य–नामक ऊपर के लोक तथा अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल एवं पाताल–नामक नीचे के लोक, सकल ब्रह्माण्ड एवं उसमें चार प्रकार के – जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज–स्थूल शरीरों की और उनके पोषणार्थ अन्न–पानादि विषय–भोगों की सृष्टि होती है। [67]

---

62. "इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः –– सत्सूक्ष्मशरीरम्।" –वे० सा० 13, पृ० 36–37
63. "पञ्चीकरणं –– संयोजनम्।" –वे० सा० 15, पृ० 43
64. पं० द० 1–27
65. छां० उप० 6–3–2, 6–3–3
66. "पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे –– गन्धाश्च।" –वे० सा० 15, पृ० 44
67. "एतेभ्यः पञ्चीकृतेभयो –– मशकादीनि।" –वे० सा० 16 पृ० 47

जिस तरह पृथक्-पृथक् वनों की समष्टि से एक महावन बन जाता है या भिन्न-भिन्न जलाशयों से एक महाजलाशय बन जाता है, उसी तरह कारण सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की समष्टि से एक महाप्रपञ्च बन जाता है। [68]

प्रलय की अवस्था में व्युत्क्रम से यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म में विलीन हो जाता है। चारों प्रकार के स्थूल शरीर, विषय-भोग, चौदह लोक एवं तीन भुवन तथा उनका आधारभूत ब्रह्माण्ड- ये सब अपने कारणभूत पञ्चीकृत महाभूतों में, पञ्चीकृत एवं सभी सूक्ष्म शरीर अपञ्चीकृत में, सत्त्वादि गुणों सहित अपञ्चीकृत एवं सभी सूक्ष्म शरीर अपञ्चीकृत में, सत्त्वादि गुणों सहित अपञ्चीकृत अज्ञानोपहित चैतन्य में लीन होकर तन्मात्र शेष रह जाते हैं और ये भी अर्थात् अज्ञान, तदोपहित सर्वज्ञत्वादिगुण-सम्पन्न ईश्वरादि अपने आधारभूत उपाधिरहित चैतन्यरूप तुरीय ब्रह्म में समा जाते हैं। इस तरह ब्रह्म से ही सृष्टि उत्पन्न होने और उसमें ही समा जाने से एकमात्र ब्रह्म ही सत्य वस्तु है। [69]

आत्मा-विषयक विवाद का निराकरण

आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मान्यतायें पाई जाती हैं। सदानन्द ने उनको वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करके अन्त में आत्मा को शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-नित्य-चेतनस्वरूप बतलाया है।

'आत्मा वै जायते पुत्रः' [70] इस श्रुति अनुसार कुछ स्थूल बुद्धि वाले पुत्रादि को ही अपना आत्मा मानते हैं। पुत्र के पुष्ट या नष्ट होने पर मैं पुष्ट या नष्ट हो गया'- यह अनुभव प्रमाण मानते हैं, परन्तु 'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' [71]- श्रुति से इसका खण्डन हो जाता है।

'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' [72] - इस श्रुति अनुसार चार्वाक इस स्थूल शरीर को ही आत्मा मानते हैं, क्योंकि पुत्रादि की अपेक्षा इस पर अधिक मोह देखा जाता है। जैसे घर में आग लगने पर यह शरीर उसको छोड़कर भी बाहर आ जाता है तथा 'मैं मोटा हूँ, पतला हूँ' - यह अनुभव भी इसका प्रमाण है। परन्तु 'अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम्' [73] -श्रुति इसका खण्डन करती है।

68. "एतेषां स्थूलसूक्ष्म -- महानजलाशयः।" -वे० स० 18, पृ० 50
69. "एतद्भोगायतनं -- ब्रह्ममात्रंभवति।" -वे० सा० 21, पृ० 63
70. कौशी० उप० 2-11
71. कठ० उप० 4-1
72. तै० उप० 2-1-1
73. बृहद० उप० 3-8-8

लोकायत चार्वाक शरीर का खण्डन करके इन्द्रियों को ही आत्मा "ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः" [74] – श्रुति अनुसार मानते हैं, दूसरे इनके न होने पर शरीर का गमनादि व्यापार नहीं हो सकता तथा 'मैं काना हूँ, मैं बहरा हूँ' – यह अनुभव भी होता है। परन्तु 'अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्' [75] श्रुति इसका खण्डन करती है।

प्राणात्मवादी चार्वाक इन्द्रियों को आत्मा न मानकर 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' [76] – श्रुति अनुसार प्राण को ही मानते हैं। दूसरे प्राणों के बिना यह शरीर या इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकते। 'मैं भूखा हूँ व प्यासा हूँ' – यह अनुभव सिद्ध है। 'अप्राणो ह्यमनो शुभ्रः' [77] – श्रुति से इसका विरोध है।

मनात्मवादी चार्वाक कहते हैं कि प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में प्राणादिकों के साथ मन का संयोग बहुत आवश्यक है। इसके सो जाने पर वे कुछ नहीं कर सकते। 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' [78] – श्रुति वहीं 'मैं संकल्प या निश्चय करता हूँ' – यह अनुभव भी प्रमाण है। परन्तु 'अप्राणो ह्यमनो शुभ्रः' [79] – श्रुति इसका खण्डन करती है। योगाचारमत वाले विज्ञानवादी बौद्ध 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' [80] – इस श्रुति अनुसार बुद्धि को आत्मा मानते हैं तथा मन व इन्द्रियों को करण। कर्ता के बिना करण कार्य सम्पादन नहीं कर सकता। 'मैं करता हूँ व भोगता हूँ' – यह अनुभव भी साक्षी है। परन्तु 'अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता' [81] – श्रुति इसका खण्डन करती है।

प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' [82] – श्रुति अनुसार कहते हैं कि बुद्धि इत्यादि – ज्ञान-सुख-दुःखेच्छादि का अज्ञान में लय हो जाता है तथा 'मैं अज्ञानी हूँ' – ऐसा अनुभव भी होता है। अतः अज्ञान आत्मा है। 'न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम्' [83] – श्रुति इसका खण्डन करती है।

---

74. छां॰ उप॰ 5-1-7
75. मुण्ड॰ उप॰ 1-1-6
76. तै॰ उप॰ 2-2-1
77. मुण्ड॰ उप॰ 2-1-2
78. तै॰ उप॰ 2-3-1
79. मुण्ड॰ उप॰ 2-1-2
80. तै॰ उप॰ 2-4-1
81. श्वेत॰ उप॰ 1-9
82. तै॰ उप॰ 2-5-1
83. कैवल्य॰ उप॰ 24

कुमारिलभट्ट मतानुयायी 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' [84] – श्रुति अनुसार अज्ञानोपहित चैतन्य को आत्मा मानते हैं। सुषुप्तिदशा में मन एवं इन्द्रियों के व्यापाराभाव में 'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ नहीं जाना' – ऐसा परामर्श उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान से नहीं हो सकता। अतः ऐसा परामर्श करने वाला ज्ञान–अन्य अवश्य होता है। इसका खण्डन 'न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम्' [85] – श्रुति करती है।

माध्यमिकमतावलम्बी बौद्ध 'असदेवेदमग्र आसीत्' [86] – अनुसार कहते हैं कि नामरूपात्मक जगत् सृष्टि के पूर्व शून्य (अभाव) रूप था और सुषुप्ति में कुछ नहीं रहता, सुषुप्ति के बाद उठने पर 'सुषुप्ति में मैं न था' – इस तरह का निजाभाव परामर्श विषयक अनुभव भी होता है। इसलिए सर्वाभावरूप शून्य ही आत्मा है– वह कोई द्रव्य नहीं है। 'सदेव सोम्यदेमग्र आसीत्' [87] – श्रुति इसका खण्डन करती है।

इस तरह पता चलता है कि आत्मा पुत्रादि से भिन्न है, क्योंकि पुत्रादिशून्य पर्यन्त सब जड़ हैं। उनमें चैतन्याभासमात्र है। इसलिए वे घटादि के समान अनित्य है एवं इनका आभासित करने वाला 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस तरह का विद्वानों का अनुभव शुद्ध–बुद्ध मुक्तस्वभाव प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मा है। [88]

महावाक्यार्थ

जैसे पहले कहा जा चुका है कि शिष्य को सम्यक् ज्ञान प्रदान करने के लिए पहले उसे सद्वस्तु का विवेक कराया जाता है। तब अवस्तु का निराकरण कराकर एकमात्र सद्वस्तु की सत्यता सिद्ध की जाती है। [89] और उस सत्यता से शिष्य का एकत्व प्रतिपादन कराने के लिए वह कहता है– 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तत्' पद वाच्य सत्य वस्तु और 'त्वम्' पद वाच्य आप (मेरे शिष्य) एक ही वस्तु हो और यह एकता 'तप्तायः' (गर्म लोहा) और अग्नि की एकता की भाँति ही है। जिस प्रकार पार्थिव अंश रहते हुए भी 'अग्नित्व' समानता से उनकी एकता है और लक्ष्यार्थ से अग्नि की लोहे से विलक्षणता प्रतीत होती है। उसी तरह कारण, सूक्ष्म, स्थूल,

84. तै॰ उप॰ 2-5-1
85. कैवल्य उप॰ 24
86. तै॰ उप॰ 2-7-1
87. छां॰ उप॰ 6-2-1
88. "अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्तु।" –वे॰ सा॰ 20
89. वे॰ सा॰ 22, पृ॰ 66

समष्टि-व्यष्टि अज्ञान, ईश्वर-प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ-तैजस, वैश्वानरविश्व अर्थात् समस्त महाप्रपञ्च की एवं विशुद्ध तुरीय चैतन्य की एकता अभिधा से द्योतित होती है और परस्पर विलक्षणता लक्षणा से। समस्त प्रपञ्च 'त्वम्' पद वाच्य है और विशुद्ध तुरीय 'तत्' पद वाच्य है।[90]

'तत्त्वमसि' पद के अर्थ का बोध-सामानाधिकरण, विशेषणविशेष्यभाव तथा लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध से – 'सोऽयंदेवदत्तः' की तरह होता है।[91] जैसे इस वाक्य में देवदत्त का अखण्डार्थ 'तत्-तत्' विशिष्टताओं एवं 'एतत्-एतत्' विशिष्टताओं के विरुद्धांशों को त्यागने से होता है, उसी प्रकार सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट 'तत्' पद वाच्य परोक्ष चैतन्य एवं अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट 'त्वम्' पद वाच्य अपरोक्ष चैतन्य के विरुद्ध अंशों का भागत्यागलक्षणा (जहदजल्लक्षणा) द्वारा परिहार करके केवल शुद्ध चैतन्य की अखण्डैकरसता से होता है। सदानन्द ने भागत्याग लक्षणा से ही अर्थबोध हो सकता है, इसके लिए कहा है कि 'नीलमुत्पलम्' की गुण-गुणी (द्रव्य) संसर्गता यहाँ दोनों के द्रव्य होने से उपयुक्त नहीं। 'गंगायां घोषः' की तरह जहल्लक्षणा और 'शोणोधावति' की तरह अजहल्लक्षणा भी अनुपयुक्त है, क्योंकि मात्र त्यागने या ग्रहण से अर्थ ठीक नहीं बैठता। इसलिए सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व विरोधी अंशों को त्यागकर (जहत्) एवं चैतन्यांश को न त्यागकर (अजहत्) 'तत्' और 'त्वम्' पद अविरुद्ध अखण्ड चैतन्यमात्र को लक्षित करते हैं।[92]

अनुभववाक्यार्थ

जब आचार्य द्वारा इस प्रकार अध्यारोप एवं अपवाद के माध्यम से शिष्य को 'तत्त्वम्' पदार्थ का सम्यक् बोध हो जाता है, तो उस समय योग्य साधक में 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं' रूप 'मैं ब्रह्म ही हूँ' – इस प्रकार की चित्तवृत्ति का उदय होता है। वह चित्प्रतिबिम्ब से युक्त होने से चैतन्याभिन्न परमब्रह्म की विषयिणी होकर तद्गत समस्त अज्ञान का नाश कर देती है। अज्ञान के बाधित होने से जिस प्रकार तन्तुरूप कारण के जल जाने से पटरूप कार्य का भी नाश हो जाता है, उसी तरह अज्ञानरूपी कारण के समाप्त हो जाने से समस्त

---

90. "अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यम् -- भवति।" –वे॰ सा॰ 22, पृ॰ 66
91. वे॰ सा॰-24, 25, 26, 27, पृ॰ 74 तः 81
92. "सामानाधिकरण्यञ्च विशेषण विशेष्यता। लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।" –नै॰ सि॰ 3-3

जगत्-प्रपञ्चरूपी अज्ञान-कार्य का भी स्वतः ही नाश हो जाता है। जैसे दीपक की प्रभा सूर्य को अवभासित न कर सकने के कारण उससे अभिभूत हो जाती है, उसी प्रकार स्वयंप्रकाश-स्वरूप प्रत्यगभिन्न परब्रह्म को वह चैतन्यप्रतिबिम्ब अवभासित नहीं कर सकता। प्रत्युत् भिन्नता के कारण उस अखण्ड चित्तवृत्ति के नष्ट हो जाने पर स्वतः उसी तरह बिम्बमात्र रह जायेगा, जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब उसके रहते ही दिखलाई देता है। एवं उसके अभाव में बिम्बमात्र (मुखमात्र) ही शेष रह जाता है। अतः वृत्ति के न रहने पर उस चैतन्य के प्रतिबिम्ब का भी बिम्ब-प्रत्यगभिन्न परब्रह्ममात्र ही रह जाता है।[93]

इस तरह अन्तःकरणवृत्तिबिम्बित चिदाभास के द्वारा आज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के अज्ञानावरणनिवृत्तिपूर्वक स्वरूपज्ञान के तात्पर्य से कही हुई 'मनसैवेदमाप्तव्यम्, दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया' इत्यादि श्रुतियों-स्मृतियों एवं किसी अन्य के द्वारा स्वयंप्रकाशशील परब्रह्म प्रकाशित नहीं हो सकता, वह मन वाणी, बुद्धि से परे है, इस तात्पर्य से कही हुई 'यतो वाचो निवर्तन्ते', 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतियों-स्मृतियों में विरोध नहीं हो सकता। जिस प्रकार घटादि जड़ पदार्थ देखने के लिए आँख और दीपक दोनों की आवश्यकता होती है, परन्तु दीपक देखने के लिए केवल आँखें पर्याप्त होती हैं, उसी तरह अज्ञान उपहित जीवचैतन्यगत अज्ञान को दूर करके ब्रह्ममात्र शेष रखने के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' यह तदाकाराकारित चित्तवृत्ति एवं तद्गतचिदाभास दोनों की आवश्यकता है। परन्तु अज्ञानावरण के दूर हो जाने से जब स्वयं प्रकाशमान चैतन्य शेष रह जाता है, तो इसे कोई प्रकाशित नहीं कर सकता,[94] प्रत्युत् चैतन्याभास भी प्रकाश का अंश ही होने से उसमें ही विलीन हो जाता है।[95] पञ्चदशी में भी ऐसा ही कहा गया है।[96]

परन्तु जड़घटाद्याकारावृत्ति का व्यापार इससे पृथक् है। जब 'अयं घटः' 'अहं घटविषयकज्ञानवान्' – इस तरह अज्ञातघटविषय चित्तवृत्ति का उदय होता है, तो वह वृत्ति घटोपहित चैतन्य के आवरण करने वाले घटविषयक अज्ञान का भी नाश करती है तथा अपने में विद्यमान चिदाभास के माध्यम से घट को भी प्रकाशित करती

93. "एवमाचार्येण –– ब्रह्ममात्रंभवति।" –वे॰ सा॰ 28, पृ॰ 82-83

94. वे॰ सा॰ 29, पृ॰ 85, 86

95. "स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते।" –वे॰ सा॰ 29, पृ॰ 85

96. "ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय –– फलं कुर्याद घटादिवत्।" –पं॰ द॰ 7-92, 93-94

है।[97] तात्पर्य यह है कि जैसे दीपक अन्धेरे में रखे हुए घटादिकों के आवरणरूप तम को नष्ट करता है और अपने प्रकाश से उन्हें प्रकाशित भी करता है, उसी प्रकार घटाद्याकाराकारितचित्तवृत्ति घटादिविषयक चैतन्याज्ञानावरण को दूर करती है तथा स्वप्रतिविम्बितचिदाभास के द्वारा घटादिकों को प्रकाशित भी करती है।[98]

व्यावहारिक उपाय

इस तरह जब तक अपने यथार्थरूप का साक्षात्कार न हो जाये श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि और अनुष्ठान इनका करना अत्यन्त अपेक्षित है। छः प्रकार के लिंगों[99] द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों का एक ही अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य समझना 'श्रवण' कहलाता है। इसके बाद वेदान्त की अनुकूल युक्तियों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का सतत चिन्तन करना 'मनन' कहलाता है। देह से लेकर बुद्धि पर्यन्त जितने भी पृथक्-पृथक् जड़ पदार्थ हैं उनकी भिन्नत्व-भावना को दूर करके सब में एकमात्र ब्रह्मविषयक विश्वास करना -निदिध्यासन' कहलाता है। सविकल्पक-निर्विकल्पक- ये समाधि के दो भेद हैं। सविकल्पक समाधि की दशा में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय - इनका भेदज्ञान होते हुए भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति की स्थिति होती है। जैसे मिट्टी के बने हुए हाथी आदि में मिट्टी और हाथी इन दोनों के प्रकाशित होने पर भी हाथी आदि नाममात्र ही हैं, ऐसा ज्ञान रहता है। उसी प्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद भासित होते हुए भी अद्वैत वस्तु का भान होता रहता है। निर्विकल्पक समाधि में तीनों का भेदभाव नहीं रहता, अपितु अद्वितीय वस्तु ही में तदाकाराकारित चित्तवृत्ति की अतिशय एकता होकर उसी रूप में उसकी स्थिति रहती है। जिस प्रकार नमक पूर्णतया जल में घुल जाने से पृथक् प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत् जलमात्र ही भासित होता है। वैसे ही अद्वितीय वस्त्वाकारित चित्तवृत्ति का पृथक् अवभास बिल्कुल नहीं होता है, अपितु अद्वितीयता ही दिखाई देती है। यद्यपि समाधि और सुषुप्ति दोनों में वृत्ति का भान नहीं होता, परन्तु समाधि में वृत्ति रहती है और जल में लवण की भाँति अभेद में उसकी तन्मयता हो जाने के कारण भिन्न प्रतीत नहीं होती। किन्तु सुषुप्ति में तो

97. बुद्धितत्स्थचिदाभासौ -- घटः स्फुरेत। -तदेव 7-91

98. यथा दीपप्रभा -- स्वप्रभया तदपि भासयति। -वे० सा० 29, पृ० 86

99. "लिंगानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।" -वे० सा० पृ० 89

वृत्ति रहती ही नहीं है।[100] इस निर्विकल्प समाधि के आठ अंग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को 'यम' कहते हैं। शौच (पवित्रता), सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान को 'नियम' कहते हैं। कर–पाद आदि द्वारा सम्पादित होने वाले पद्म, स्वास्तिक, आदि 'आसन' कहलाते हैं। नासिका द्वारा वायु को ऊपर खींचना 'पूरक', उसका रोक रखना 'कुम्भक' तथा त्याग 'रेचन' कहते हैं। प्राण–वायु के निग्रह के लिए जो ये उपाय हैं, इन्हें 'प्राणायाम' कहते हैं। अपने–अपने विषयों से इन्द्रियों का हटा लेना 'प्रत्याहार' और अन्तःकरण का अद्वितीय वस्तु में लगा देना 'धारणा' है। इसका रुक–रुक कर अद्वितीय वस्तु की ओर प्रवृत्त करना 'ध्यान' कहलाता है। ज्ञाता–ज्ञान और ज्ञेय के भेदावभासपूर्वक अद्वितीय वस्तु में तदाकाराकारित चित्तवृत्ति की स्थिति को 'सविकल्पक समाधि' कहते हैं।[101]

निर्विकल्पक समाधि के चार विघ्न–लय, विक्षेप, कषाय, और रसास्वाद होते हैं। आलस्य के कारण चित्तवृत्ति बाह्य–विषयों को ग्रहण नहीं करती, परन्तु चैतन्यात्मा भी अवभासित नहीं होती। अतः चित्तवृत्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है– इसी को 'लय' कहते हैं। अद्वितीय वस्तु का ग्रहण करने के लिए चित्तवृत्ति जब अन्तर्मुख होती है, परन्तु उसे न पाकर द्वारा बाह्य–वस्तुओं का ग्रहण करने में लग जाती है– यह 'विक्षेप' कहलाता है। लय और विक्षेप रूप दोनों विघ्नों के न होने पर भी रागादि वासनावश चित्तवृत्ति के स्तब्ध हो जाने के कारण अखण्ड वस्तु का अनवलम्बन 'कषाय' कहलाता है। बाह्यप्रपञ्च की निवृत्ति होने से ब्रह्मानन्द के भ्रम से जो सविकल्परूप आनन्द का अनुभव होता है या समाधि के शुरू में जो विकल्पक समाधि आनन्द का आस्वादन आता है– उसे 'रसास्वाद' कहते हैं।[102] इन कहे हुए लय आदि चारों विघ्नों के बिना चित्त जब निर्वातस्थल में विद्यमान दीपक सदृश स्थिर एवं अखण्डचैतन्यमात्र स्थित होता है– यही 'निर्विकल्पक समाधि' दशा होती है। इसकी निवातस्थ दीपक से तुलना की गई है।[103]

100. "एवंभूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं -- उपपत्ते।" –वे० सा० 30, पृ० 89–90
101. "अस्याङ्गानि -- सविकल्प एव।" –वे० स० 31, पृ० 96
102. "एवमस्य -- आस्वादनं वा।" –तदेव 32, पृ० 97
103. "अनेन -- समाधिरित्युच्चे।" –वे० सा० 33, पृ० 98
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।" –वे० सा० 33, पृ० 98 तथा अमन० यो० 1-40

जीवन्मुक्त एवं विदेहमुक्त

गुरु उपदेश, शास्त्र वाक्य एवं अपने अनुभव से जब आत्मा तथा ब्रह्म की अद्वैतता का ज्ञान हो जाता है, तो उस ज्ञान द्वारा समस्त आत्मगत अज्ञान नष्ट हो जाने के कारण अखण्ड ब्रह्म का अनुभव होता है। ऐसी अवस्था में मूल अज्ञान एवं तज्जन्य कार्यरूप संचित कर्म-संशय-विपर्यय आदि भी समाप्त हो जाते हैं। अतः समस्त बन्धनों से रहित हो जाने के कारण ब्रह्ममात्र में आत्मा की तत्परता रह जाती है- ऐसा ब्रह्मनिष्ठ ही जीवन्मुक्त कहलाता है। मुण्डकोपनिषद् में भी यही बात कही गई है। [104]

जीवन्मुक्त जाग्रदावस्था में मांसमूत्रादि के पात्र इस शरीर से तथा अन्धत्वादि के भाजन बाह्य इन्द्रियों से तथा भूख-प्यासादि के घर अन्तःकरण से पूर्वसंस्कार के कारण किये जाते हुए कर्मों एवं आरब्ध कर्मों के फलों को देखता हुआ भी यथार्थ में उसी प्रकार नहीं देखता, जैसे जादू देखने वाला पुरुष जादूगर की बातों को जादू समझकर 'यह वास्तविक नहीं' इस प्रकार देखता हुआ भी नहीं देखता। इसी बात को 'सचक्षुरचक्षुरिव' 'सकर्णोऽकर्ण इव' 'तदेजति तन्नैजति' – आदि श्रुतियाँ कहती हैं। 'उपदेश साहस्री' में सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति' रूप से भी यही बात कही गई है। [105]

इसकी अशुभ वासनायें तो नष्ट हो चुकी होती हैं और आहार विहारादि की अनुवृत्ति जैसे ज्ञान से पूर्व शुभ संस्कारों में प्रवृत्त होती है, वैसे ही अब भी या शुभाशुभ दोनों के प्रति उदासीन हो जाता है। वह अशुभ कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, अन्यथा मूर्ख और आत्मज्ञानी में भेद क्या रह जायेगा ? नैष्कर्म्यसिद्धि और उपदेशसाहस्री में भी ऐसा ही कहा गया है। [106]

जीवन्मुक्त की दशा में विद्वान् संन्यासी भी विषय का अभिमान या किसी से द्वेष नहीं रखता। वे सब गुण उसमें अपने आप लक्षण के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। नैष्कर्म्यसिद्धि में भी यही बात कही गई है। [107]

---

104. "जीवन्मुक्तो नाम -- ब्रह्मनिष्ठः।" -वे० सा० 34, पृ० 99-100 तथा मुण्ड० उप० 2-2-8
105. वे० सा० 35, पृ० 101 तथा उप० सा०, भा० 2, प्रक० 10, 12
106. नैष्कर्म्यसिद्धि 4-62, उप० सा० भा० 2, प्रक० 12 (13) वे० सा० 36, पृ० 103
107. नै० सि० 4-69 तथा वे० सा० 37, पृ० 104

वह शरीर-यात्रा मात्र के लिए स्वेच्छाकृत भिक्षाटनादि, परेच्छाकृत शिष्यादि द्वारा प्रदत्त फलमूलादि, अनिच्छाकृत अकस्मात् कण्टकादि लग जाने रूप इन तीनों प्रकार के प्रारब्ध कर्मों से उत्पन्न सुख-दुःखों का अनुभव करता हुआ भी अपने ज्ञान द्वारा सब बातों को वास्तविक रूप से देखता है और भोगादि द्वारा जब प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते हैं, तो अखण्ड परमात्मा में उसके प्राणादि विलीन हो जाते हैं। अविद्या एवं तज्जन्य कोई संस्कार शेष नहीं रहते तथा सब भेदभाव के नष्ट हो जाने से ब्रह्ममात्र शेष रह जाता है। इस प्रकार उसकी बुद्ध्यादि उपाधि विलीन हो जाने पर घटादि के टूट जाने पर आकाश की तरह 'मुक्त' औपचारिक संज्ञा हो जाती है। वास्तव में तो वह न बद्ध है न मुक्त। वह संसृति चक्र से सर्वथा मुक्त होकर परमकैवल्य, आनन्दैकरस, अद्वितीय, अखण्डब्रह्म में ही समा जाता है। श्रुतियाँ भी ऐसा ही कहती हैं। [108]

108. वे० सा० 38, पृ० 105

पञ्चम अध्याय

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् और वेदान्तसार की सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन

विश्व की विचित्रताओं को देखकर हमारे पूर्वज मनीषी-ऋषियों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि वास्तव में यह जगत् क्या है ? इसका आश्रय कौन है ? किसी ने तो 'स्वभ व' को कारण माना, क्योंकि बीज के अनुरूप ही वृक्ष की उत्पत्ति होती है अर्थात् जिस वस्तु में जो स्वाभाविक शक्ति है उसी के अनुरूप कार्य होता है। किसी ने 'आकस्मिक घटना' को कारण बताया, जैसा कि अब भी भौतिकवादी मानते हैं कि अणुओं के यादृच्छिक संयोग से ही विश्व रचना होती है। किसी ने 'काल' को कारण बताया, क्योंकि किसी न किसी समय पर ही वस्तुओं की उत्पत्ति देखी जाती है एवं प्रलय भी समयानुसार ही होता है। किसी ने 'कर्मों' को कारण बताया, क्योंकि कर्मानुसार ही जीव भिन्न-भिन्न योनियों में पृथक्-पृथक् स्वभाव आदि से युक्त होकर जन्म लेते हैं। किसी ने 'पाँच महाभूतों' एवं किसी ने 'जीव' को ही कारण बताया। परन्तु गहन चिन्तन से मालूम हुआ कि स्वभाव से लेकर महाभूतों तक अकेले-अकेले या सब मिलकर भी कारण नहीं हो सकते, क्योंकि ये सब जड़ हैं और कर्तृत्व चेतन का ही हो सकता है। अतः ये परतन्त्र हैं और उसके लिए ही हैं, परन्तु जीव भी सुख-दुःख का भोग करने में स्वतन्त्र नहीं है। अतः कोई अन्य शक्ति है, जिसका यह समस्त खेल है।[1] उस शक्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार पाये गये परन्तु यह सर्वमान्य हुआ कि वह एक ही हो सकती है। इन भिन्न-भिन्न विचारों के अनुरूप ही भिन्न-भिन्न मतों का उद्भव विकास हुआ। फलतः न्याय-वैषेशिक, सांख्य-योग, मीमांसा, वेदांत, शैव, बौद्ध, जैन आदि अनेक दर्शन भारत में प्रचलित हैं। इन सबकी अपनी-अपनी विशेषता है, तथापि अद्वैत

1. श्वेत, उप० 2, 3

वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन अपनी विशेष विचारधारा से इनमें शिरोमणि गिने जाते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध-योजना के इस अध्याय में इन दर्शनों के साररूप की प्रतीक दोनों लघु ग्रन्थों में संकलित सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। इसके पूर्व कि इनमें उपवर्णित तत्त्वों पर विवेचन किया जाये, मुझे दोनों ग्रन्थों के नामों अर्थात् वर्णित लक्ष्यों की एवं लेखकों की औपचारिक समानता का निदर्शन करना अत्यन्त श्रेयस्कर दिखाई देता है। 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के लेखक आचार्यवर क्षेमराज का व्युत्पत्तिपरक अर्थ 'क्षेमेण राजति क्षेमस्य राजा वा' प्रतीत होता है, जिससे तात्पर्य है कि क्षेम (शिवता) से सुशोभित या शिवता के राजा अर्थात् परमानन्द स्वरूप एवं वेदान्तसार के रचयिता योगीन्द्र सदानन्द का 'सत्+आनन्द' या 'सदा+आनन्द' अर्थात् विषयानन्द नहीं, सत् (मंगलकारी) आनन्द या सदैव में रहने वाला, जो परमानन्द ही हुआ। अतः दोनों के नाम में भी समानता है।

दोनों ग्रन्थ अपने-अपने दर्शनों के साररूप हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का लक्ष्य भी यथार्थ स्थिति का वर्णन करके अपने वास्तविक स्वरूप शिव की पहचान कराकर परमानन्द दिलाना है, तो वेदान्तसार का भी ध्येय सत्य-असत्य का विवेचन करके अपने पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म से ऐकात्म्य बोध कराकर परमानन्द अर्थात् मुक्ति दिलाना ही। अतः दोनों ग्रन्थों में एक ही लक्ष्य पर, यद्यपि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से, बल दिया गया है।[2] दोनों में अधिकारी का स्पष्ट उल्लेख है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के प्रारम्भ एवं अन्त में क्षेमराज कहते हैं कि जिनको शक्तिपात हो गया है, परन्तु जो इस दर्शन में रुचि रखने वाले इसके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' को सूक्ष्म बुद्धि न होने के कारण समझ नहीं सकते, उनके लिए साररूप में यह लघु ग्रन्थ रचा गया है। वेदान्तसार में भी वर्णित है कि जिन्होंने इस जन्म या पूर्व जन्म में वेद-वेदांगादि का विधिवत् अध्ययन से तात्पर्य जान लिया है, काम्य, निषिद्ध कर्मों में रुचि नहीं रखते एवं नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त उपासनादि के अनुष्ठान से हृदय निर्मल हो गया है- वे ही इसके अधिकारी हैं।[3] सम्यक् ज्ञान प्राप्ति के लिए योग्य गुरु की शरण में जाकर आश्रय

2. "शाङ्करोपनिषत्सार -- संसारविषशान्तये।" -प्र० हृ० पृ० 19
एवं "जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।" -वे० सा० 4, पृ० 4

3. "इह ये सुकुमारमतयो -- उन्मीलयते।" -प्र० हृ०, पृ० 20
एवं "अधिकारी तु विधिवद् -- प्रमाता।" -वे० सा०, पृ० 3

लेना महत्त्वपूर्ण तथ्य बतलाया गया है। गुरु के पास भेंट लेकर जायें एवं उनकी श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवा करें, तब वे मोक्ष-ज्ञान बतला देते हैं। गुरु का ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय या सद्गुरु होना भी अनिवार्य है एवं ऐसे ही गुरु की शरण में उत्कृष्ट जिज्ञासा के साथ जाना चाहिए। [4]

ब्रह्मज्ञान या स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति के लिए उपायों का स्पष्ट उल्लेख दोनों में मिलता है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में अपने स्वरूप ज्ञान के लिए व्यावहारिक उपायों में अपने सतत पञ्चकृत्यकारित्व का अनुचिन्तन करना, विकल्पक्षय, शक्तिसंकोचविकास, वाहच्छेद, आद्यन्तकोटिनिभालन आदि का अभ्यास करने से मध्य का विकास होने से चिदानन्द लाभ बताया है। वेदान्तसार में, नित्य-अनित्य विवेक विराग, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा, तथा मोक्षेच्छा का होना प्रारम्भिक गुण एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन, सविकल्पक-निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास के साथ यमादि नियमों का पालन एवं लयादि दोषों का ध्यान रखने से अपने चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति बतलाई गई है। [5]

उपायों के पूर्णत्व में जीवन्मुक्ति एवं शरीर त्यागने पर परममुक्ति का उल्लेख समान ही मिलता है। प्रत्यभिज्ञा अनुसार उपायों की सफलता से मध्यविकास द्वारा चिदानन्दलाभ से जीवन्मुक्त हो जाता है एवं वेदान्तसार अनुसार उपायों से स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञान से अज्ञान एवं तज्जन्यप्रपञ्च की निवृति से जीवन्मुक्त होता है एवं शरीर त्यागने पर सर्वथा मुक्त हो जाता है। [6]

अज्ञान को ही दोनों में बन्धन का मूल कारण बताया गया है तथा ज्ञान को ही मुक्ति। अपनी शक्तियों के अज्ञान से मल से आवृत हुआ संसारी या चित् शक्ति के संकोच को यथार्थ मानने का अज्ञान संसारी बनने का कारण है – ऐसा प्रत्यभिज्ञा में उल्लेख है एवं सच्चिदानन्द ही यथार्थ वस्तु है और अज्ञान एवं तज्जन्य सकल प्रपञ्च जड़ समूह अवस्तु है। परन्तु अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप शक्ति से आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप के ढक जाने से विश्व में अपने से भिन्न नानात्व को देखता है

---

4. "ईदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्व -- सद्गुरुसपर्यैव -- अनुसर्तव्या।"
–प्र० हृ०, पृ० 55
एवं "उपहारपाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं -- अनुसरति।" –वे० सा०, पृ० 13

5. प्र० हृ० सू० 17, पृ० 73 तथा पृ० 75, सू० 18, पृ० 75 एवं वे० सा० 4, पृ० 3-4 तथा तदेव 30, पृ० 89-90 और तदेव 31-32, पृ० 96-97

6. प्र० हृ० सू० 16, पृ० 71 तथा वे० सा० 34, पृ० 99-100

तथा अकर्ता होते हुए भी कर्ता-भोक्ता समझने से सुखी-दुःखी होता है। अतः अज्ञान ही संसारीपन का कारण है – ऐसा वेदान्तसार में वर्णन मिलता है। अपनी शक्तियों के यथार्थ परिज्ञान से एवं ब्रह्म के ही यथार्थ सत्य मानने से जगत् सम्बन्धी अज्ञान के नाश से क्रमशः शिवरूपता एवं ब्रह्मरूपता बतलाई गई है। [7]

विश्व की व्यावहारिक सत्ता की समानता दोनों में स्पष्ट निरूपित है। प्रत्यभिज्ञानुसार तो विश्व की व्यावहारिकसत्ता के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि तदनुसार विश्व शक्ति स्फार ही है जो स्वयं सत्य है। अतः उसका विकास भी सत्य ही होगा। परन्तु वेदान्तसार में भी नित्य-नैमित्तिक कर्म, शमदमादि षट्-सम्पति, समाधि, प्राणायामादि, श्रवण-मननादि एवं वेदादि की पठनादि व्यावहारिक सत्ता के स्पष्ट प्रतीक हैं। अतः इसमें भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता मानी गई है।

पारमार्थिक सत्य एक ही है– इसका स्पष्ट उल्लेख दोनों में समान है एवं जगत् की कार्य-व्यंवस्था, सृष्टि आदि का नियमन उस सत्ता के द्वारा भिन्न-भिन्न उपाधियों द्वारा होता है – यह भी समान रूप से निरूपित है। वेदान्तसार में ईश्वर के नियन्त्रण में प्रभुत्व है तो प्रत्यभिज्ञा में भगवती पराशक्ति का ही सारा खेल एवं विकास है। दोनों में परमसत्ता को स्वयंसिद्ध एवं प्रमाणादि से न जाना जा सकने वाला तथा विश्व का निमित्त एवं उपादान कारण माना गया है। [8]

जीवों की व्यावहारिक सत्ता दोनों मे स्वीकार की गई है। वेदान्तसार में व्यष्टि अज्ञान उपहित चैतन्य जीव है, तो प्रत्यभिज्ञा में चिति का स्वस्वातन्त्र्य एवं स्वेच्छा से परिगृहीत संकोच अवभासक चैतन्य पशु (जीव) है। एक में अज्ञान की निवृत्ति बन्धन से छुटकारा है, तो दूसरे में संकोच का पुनरावर्तन अर्थात् स्वरूप ज्ञान से चितिरूप में परिणति।

व्यावहारिक रूप में परमसत्ता एवं प्रकृति की सत्ता दोनों को मान्य है और वह सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों से सम्पन्न है एवं जगत् के सकल प्रमेय-भोग लोक आदि उससे बने हैं।

---

7. प्र० हृ० सू० 9, पृ० 48, तथा 'शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते। स्वशक्तिविकासे तु शिव एव' तदेव पृ० 49 तथा तदेव सू० 12, 13 और वे० सा० 6, वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु, तथा तदेव 10, 21
8. प्र० हृ०, पृ० 21-22, 25, 26 तथा वे० सा० पृ० 18, 31

दोनों ग्रन्थों में अपने-अपने दर्शन के उपजीव्य ग्रन्थों से प्रमाण रूप से उद्धरण दिये गये हैं। वेदान्तसार में उपनिषदों एवं पञ्चदशी आदि से अपने सिद्धान्त की सत्यता दिखाने के लिए उद्धरण दिये गये हैं, तो प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, श्री विज्ञानभट्टारक, श्रीस्पन्दशास्त्र, शिवस्तोत्रावली, विज्ञानभैरव आदि इस दर्शन के मूल ग्रन्थों से।

तत्त्वों के सम्बन्ध में पृथिवी आदि पाँच स्थूल भूत, पाँच तन्मात्राओं (पृथिवी तन्मात्रा आदि), पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं बुद्धि, मन, अहंकार, चित्त, प्रकृति, पुरुष समरूप गुण-दोषों से ही दर्शाये गये हैं, परन्तु प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में वेदान्तसार की भाँति पञ्चीकरण प्रक्रिया, जिससे सूक्ष्ममहाभूतों से आकाशादि पाँच स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है तथा प्राणादि पाँच वायुओं का तत्त्वों की श्रेणी में निरूपण नहीं मिलता, यद्यपि पाँचों वायुओं के अस्तित्व की स्वीकृति स्पष्ट रूप से वर्णित है, जो साधना में अपनी चमत्कृति दिखाता है।

अज्ञान या माया के परिवार के कार्यों में पूर्ण समानता है और उनका काम भी जीव या पशु को सीमित बना कर भेदबुद्धि उपजाना ही है। परन्तु वेदान्तसार में इसके दो ही रूपों (शक्तियों) – आवरण तथा विक्षेप से सारा काम ले लिया गया है और प्रत्यभिज्ञा में – कला, विद्या, राग, काल नियति, पाँच कञ्चुक सर्वकर्तृत्वादि को परिसीमित करने वाले तथा आणव, मायीय, कार्ममल भी स्पष्ट निरूपित हैं, जो सीमित करने, भेद उपजाने, शुभाशुभ कर्मफल भोगने से पशु को बाँधते हैं।

इन समानताओं के होते हुए भी दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों में कुछ मूल भिन्नतायें भी दिखाई देती हैं। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अनुसार परमशिव को विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों वाला माना गया है और विश्व की सृष्टि आदि को स्वयं अपनी स्वातन्त्र्य इच्छा की महिमा से करता है। वेदान्तसार में ब्रह्म को परम अर्थात् मन, वाणी की पहुँच में न आने वाला (विश्वोत्तीर्ण) माना गया है और सृष्टि आदि करने वाला सगुण ब्रह्म (अज्ञान से उपहित चैतन्य-ईश्वर) को माना गया है एवं ईश्वर-जीव आदि की अवस्थायें अस्थायी मानी गई हैं, क्योंकि अज्ञान उपाधि रहित होने से वे शुद्ध चैतन्यमात्र (ब्रह्ममात्र) ही रह जाते हैं।[9]

वेदान्तसार अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि यह मत वस्तु (सत्य) और अवस्तु (असत्य) की बाह्य या पूर्ण भिन्नता पर अवलम्बित है। सत्य और मायावी (आभास)

9. वे० सा०, पृ० 1, 18, 63 तथा प्र० हृ० पृ० 29

में अन्तर आध्यात्मिक जागरूकता के लिए महत्त्वपूर्ण सावधानी है। आभास (मायावाद) तो मानो इस दर्शन की जड़ है। माया (अज्ञान) का अनुभव यथार्थसत्ता के अबाध्य होने का ज्ञान प्रदान करता है एवं माया के बाध्य होने का। सदानन्द ने अधिकारी निरूपण में नित्य–अनित्य विवेक, [10] साधक के ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए अन्य योग्यताओं के साथ अत्यावश्यक गुण बताये हैं, जिससे वैराग्य की भावना के कारण समता का विचार आ जाता है एवं मोक्ष की प्राप्ति करने के लिए तत्परता हो जाती है। यह योग्यता प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में प्रतिपादित सिद्धान्त से स्पष्ट अन्तर बतलाती है, क्योंकि तदनुसार प्रत्येक वस्तु सत्य है, जहाँ तक कि ज़िसे प्रथम में अनित्य बताया गया है, वह भी सत्य है। [11] ऐसा साधक जिसने अपने जीवनकाल में ही मुक्ति प्राप्त कर ली हो, समस्त विश्व को अपनी आत्मा ही मानता है। [12] वह अपने दृष्टिकोण को विस्तृत करता है, जिससे समस्त वस्तुयें उसकी चित्शक्ति की ही लीलामात्र प्रतीत होती हैं। उसे कोई किसी तरह का भी, सन्देह नहीं रह जाता, क्योंकि वह अन्त: स्वरूप एवं बाह्य प्रमेय में ऐकात्म्य का अनुभव करता है। बाह्य और अन्त: एक ही तत्त्व की विधायें हैं एवं इस तादात्म्य का ज्ञान ही (अनुभव ही) परमानन्द की प्राप्ति, शिव और शक्ति का सामरस्य माना जाता है। क्षेमराज कहते हैं कि सब सत्य ही है, शिव ही है, उसकी सत्ता से ही सबकी सत्ता होती है। [13] विश्व में जो कुछ भी भासित होता है, वह आत्मा का ही विकास है एवं जो कुछ भी चेतना में ज्ञात होता है, उसकी सत्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। [14] इसके विपरीत वेदान्तसार में विवेकादि के ज्ञान के बिना ब्रह्मज्ञान का अधिकारी ही नहीं माना जाता। [15] ब्रह्म को जानने के लिए विश्व की रज्जुसर्पवत् आभासता (अध्यारोपिता, विवर्तता) या असत्यता का ज्ञान होना चाहिए। यदि विश्व की माया (असत्यता) का सम्यक् ज्ञान अध्यारोपापवाद न्याय से नहीं होगा, तो ब्रह्म का ज्ञान या उपदेश साधक की समझ में नहीं आयेगा। [16]

---

10. "साधनानि -- नित्यानित्यवस्तु विवेक -- मुमुक्षुत्वानि।" –वे० सा० 4, पृ० 4
11. "न तु वस्तुत: अन्यत् किञ्चित् ग्राह्य -- श्रीपरमशिवभट्टारक -- स्फुरति।" –प्र० हृ०, पृ० 29
12. "आसादितसमावेशो योगिवरो-- भवति।" –पृ० 85–86, तथा सूत्र 16, पृ० 71 तदेव
13. "श्रीमान् महेश्वर एव परमार्थ: -- प्रकाशमानता घटते।" –प्र० हृ०, पृ० 91
14. "तत्र यावत् इदं किञ्चित् संवेद्यते तस्य संवेदनमेव स्वरूपम्।" –प्र० हृ०, पृ० 90
15. वे० सा० 4, पृ० 3–4
16. "आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां -- भवति।" –वे० सा०, पृ० 66

वेदान्तसार में ज्ञान को अज्ञान का विरोधी बताया गया है जोकि प्रकाश और तम की भाँति परस्पर विरोधी है।[17] इसीलिए अविद्या (अज्ञान, माया) की मान्यता इस दर्शन में मूल महत्त्व रखने वाली प्रतीत होती है, क्योंकि यदि अज्ञान जैसी वस्तु, जो सम्यक् ज्ञान से नष्ट हो जाती है, न हो, तो मुक्ति के लिए कोई सम्भावना नहीं रहेगी। दूसरे मुक्ति तभी हो सकती है, यदि आत्मा का बन्धन अज्ञान के कारण हो। क्योंकि यदि आत्मा यथार्थ में ही बन्धन में होती है, तब इसके यथार्थ बन्धन को समाप्त नहीं किया जा सकता। अतः यह सर्वथा भिन्न तथा पूर्णतया एक-दूसरे के विरोधाी हैं। ये दोनों एक ही समय पर परस्पर इकट्ठे नहीं रह सकते। एक के उदय के साथ-साथ दूसरे की लुप्तता हो जाती है। परन्तु प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में ज्ञान और अज्ञान पूर्णतया भिन्न नहीं माने जाते हैं। ज्ञान का संकोच (परिमितता) ही अज्ञान है एवं अज्ञान का असंकोच (विकास, अपरिमितता) ही ज्ञान है। अर्थात् अज्ञान को अभाव के रूप में माना ही नहीं गया है। ज्ञान के तारतम्य के ही दो भेद माने गये हैं– एक सूक्ष्म रूप है तो दूसरा स्थूल रूप – परन्तु भिन्न नहीं।[18] क्योंकि परमसत्ता शुद्ध चेतन स्वभाव की है। जो इसे प्रमेय से पृथक् करती है, वह इसकी अपनी विमर्शता (आत्मप्रतीति) ही है, जोकि स्वतन्त्रता में रहती है। उसी के द्वारा अज्ञान का विकास होता है तथा उससे विश्व के प्रमाता-प्रमेय-भाव-भुवन आदि का विकास होता है। इस तरह अज्ञान दैवी स्वतन्त्रता का अपना विकास ही है। तात्पर्य यह है कि चेतना या ज्ञान का आत्मसंकोच या घनीभाव ही अज्ञान है, ज्ञान का अभाव नहीं।

साधना या आध्यात्मिक संयम के क्षेत्र में भी दोनों मतों में महान् अन्तर है। वेदान्तसार में वस्तु और अवस्तु का भेद एवं वस्तु पर बल एक महत्त्वपूर्ण गुण है। अवस्तु को घृणास्पद माना गया है। परन्तु प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में वस्तु-अवस्तु का चक्र नहीं है, अपितु जो कुछ भी है उसमें शिवत्व भावना के विकास पर ही बल दिया गया है।[19] वास्तव में आत्मज्ञान तभी सम्भव समझा जाता है, जब साधक प्रत्येक वस्तु को, अशुद्ध सहित, परमसत्ता का ही रूप या विकास समझता है। तात्पर्य यह हुआ कि इस मत वाले महान् भय के क्षेत्र से सीधे जाते हैं। त्याज्य के

17. "अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं -- यत्किञ्चिदिति।" –तदेव, पृ० 14

18. "अख्यातिर्यदि न ख्याति -- संकोचोऽपि विचार्यमाणः -- चिन्मय।" –प्र० हृ० 32 तथा प्र० हृ० सू० 9, पृ० 48

19. "मध्येबोधसुधाब्धि विश्वम् -- साक्षात्स शिवः।" –प्र० हृ०, पृ० 99

तनाव को अपने अन्तःहृदय से तोड़कर, प्रत्येक वस्तु को शुद्ध ही समझते हैं। जहाँ प्रथम साधक अवस्तु से छुटकारा पाकर मुक्ति पाने का प्रयास करता है, वहाँ दूसरा उस तथाकथित अशुद्ध के आनन्द या अनुभव के माध्यम से ही मुक्तिलाभ करता है।[20]

वेदान्तसार में जप, तप, संयम, ध्यान, समाधि एवं शम, दम प्राणायाम आदि अनुसार कठिन योग साधना तथा पवित्र संन्यास धारणा का भाव मिलता है, परन्तु क्षेमराज के अनुसार प्राणायाम, मुद्रा, बन्धादि समस्त कठोर साधनाओं की अपेक्षा सहज उपाय है,[21] जिससे अभीष्ट लाभ हो जाता है। इसमें किसी पवित्रता आदि नियम का उल्लेख नहीं मिलता, जिससे यही प्रतीत होता है कि यह योग और भोग दोनों को एक ही मानते हैं, प्रत्युत् उचित संयम से भोग के स्वयं योग में परिणत होने का दृष्टिकोण रखते हैं।

वेदान्तसार में आत्मा को 'सच्चिदानन्द' एवं 'अकर्ता' बतलाया गया है और जो कर्तृत्व बतलाया गया है, वह समष्टि या व्यष्टि अज्ञान से उपहित ईश्वर या जीव का ही माना गया है।[22] ब्रह्म की स्वातन्त्र्य शक्ति का भी कोई उल्लेख नहीं है। अतः यद्यपि ब्रह्म को सत्, चित्, आनन्द स्वरूप बतलाया गया है, तथापि स्वातन्त्र्य से रहित यह जड़ की भाँति शून्य हो जाता है। चैतन्य की सबसे प्रमुख विशेषता, जड़ के सर्वथा विपरीत, अपने विकास के साथ स्वातन्त्र्य की शक्ति है। इस स्वातन्त्र्य शक्ति के बिना जड़ और चेतन में अन्तर करना असम्भव होगा। प्रकाश जड़ मणि से भिन्न नहीं हो सकेगा, यदि यह अपनी इच्छानुसार प्रमेयों को दर्शाने की क्षमता नहीं रखेगा। अतः यदि यह स्वातन्त्र्य से रहित होगा, तो चेतना शून्य की भाँति निरर्थक होगी। शुद्ध चेतना अनुभव में आ भी नहीं सकती, अनुभव से तात्पर्य होता है गुणयुक्त चेतना। यदि हम गुणरहित और निष्क्रिय सिद्धान्त को परमसत्ता मान लें, तो हम अन्ततः इसे द्वैत में ही पायेंगे। ऐसी सत्ता संसार के सम्बन्ध में पूर्णतया अयोग्य और शक्तिरहित होगी, क्योंकि दूसरा प्रथम से स्वतन्त्र होगा। इस तरह इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों की असफलता द्वैत का समन्वय न करना है। क्योंकि यदि हम अद्वैत से प्रारम्भ करें और अन्त में सभी को इससे उत्पन्न न मानें, तो यह सर्वथा द्वैत

20. "यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनः -- परानन्दस्वरूपं संप्रकाशते।" –तदेव, 48
21. "प्राणायाममुद्राबन्धादि -- सुखोपायमेव।" –तदेव पृ० 75-76
22. वे० सा० पृ० 14, पृ० 18, पृ० 27 तथा पृ० 29
"अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः -- सर्पत्वसम्भावना।"

को ही स्वीकार करना होगा। इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में परमसत्ता को कर्तृत्वयुक्त माना गया है, जो उसके सतत पञ्चविधकृत्यकारित्व में देखी जा सकती है।[23] उसे चिदानन्दघनस्वरूप माना गया है। चित् से तात्पर्य है 'प्रकाश' एवं आनन्द से स्फुरत्ता, कर्तृत्व, विमर्श (आत्मप्रतीति), स्वातन्त्र्य।[24] वह अपनी स्वातन्त्र्यरूपी इच्छाशक्ति से सब कुछ करने में समर्थ है। वास्तव में समस्त प्रमाता-प्रमेय आदि विश्व प्रपञ्च उसकी स्वातन्त्र्य लीला का विलास ही है एवं उसी की महिमा से पति, पशु, पाश आदि के रूप में परिगृहीत कृत्रिम भूमिकायें हैं।[25] यह स्वातन्त्र्यशक्ति शिवभट्टारकाभिन्ना अनुत्तर विमर्शमयी पराशक्तिरूपा चिति शक्ति ही है।[26] चित् प्रकाश है, तो आनन्द प्रकाशता है – प्रकाश से प्रकाशता को अग्नि से उष्णत्व या जल से शीतलत्व की भाँति पृथक् नहीं किया जा सकता। शिव-शक्ति का सामरस्य ही परमशिव है। अतः परमसत्ता में ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनों हैं। यह क्रिया या प्रकाशता ही शक्ति नाम से अभिहित है एवं सभी पदार्थों में गुण या धर्मरूप से व्यक्त होती है, जिससे पदार्थों की सत्ता जानी जाती है। क्षेमराज कहते हैं कि शिव का कर्तृत्व एवं स्वातन्त्र्य ही वेदान्त के ब्रह्म से इसकी मुख्य विशेषता है।[27] वास्तव में स्वातन्त्र्य और कर्तृत्व एक ही अभिप्राय के द्योतक हैं। स्वतन्त्र ही कर्ता हो सकता है एवं उसी से विश्व का नियमन आदि सम्भव है। वास्तव में वेदान्तसार का निष्क्रिय ब्रह्म सर्वथा शान्त है। जब ब्रह्म (शुद्ध चैतन्य) अविद्या (समष्टि अज्ञान) से उपहित हो जाता है, तब वह ईश्वर कहलाता है ओर तभी उसमें ईशत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि गुण आते हैं। अतः कर्तृत्व आदि अविद्या का ही है। ईश्वर जब अविद्या से आच्छादित नहीं रहता अर्थात् शुद्ध चैतन्य में कोई ऐसा गुण नहीं होता। इसी तरह जीव के विषय में कहा जा सकता है।[28] परन्तु प्रत्यभिज्ञाहृदयम् अनुसार परम शिव का कर्तृत्व तो पशुदशा में भी उसी प्रकार चलता ही रहता है।[29]

---

23. "नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।" –प्र० हृ० 19
24. "चिदात्मनः परमेश्वरस्य -- कर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्तिः।" –तदेव, पृ० 63
25. "एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः -- स्वातन्त्र्यप्रच्छादनोन्मीलनतारतम्यभेदिताः।" –प्र० हृ०, पृ० 44-45
26. "पराशक्तिरूपा चितिरेव -- शिवभट्टारकाभिन्नः।" –तदेव, पृ० 21
27. "स्वतन्त्रशब्दो -- चितो माहेश्वर्यसारतां, ब्रूते।" –प्र० हृ० पृ० 25
    "इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य -- चिदात्मना भगवतः।" –तदेव, पृ० 50-51
28. पूर्व पृष्ठ 99, पादटिप्पणी 22
29. "तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति।" –प्र० हृ०, सू० 10

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में भी माया और अविद्या को माना गया है, परन्तु इसके अनुसार अविद्या या माया कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ईश्वर को ग्रस्त कर लेती है, प्रत्युत् वह अपने स्वातन्त्र्य द्वारा, अपनी ही स्वेच्छा शक्ति द्वारा अर्थात् अपने ही द्वारा आरोपित आत्मसंकोच है। अतः सब कर्तृत्व ईश्वर का है, माया भी उसी के कर्तृत्व का एक प्रारूप है। [30] वेदान्तसार में माया को अनिर्वचनीय आदि माना गया है, परन्तु प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में उसे शिव की ही शक्ति माना गया है। अतः वह सत्य है और नानात्व तथा भेद दृष्टि उत्पन्न करने वाली है।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में विश्व-लीला का खेल आभासवाद की प्रक्रिया द्वारा समझाया गया है जिसमें 'आ' से तात्पर्य है 'ईषत्' एवं 'भास' से प्रकाशित होना अर्थात् चिति विश्व विकास के लिए अपने में स्वेच्छा से संकोच ग्रहण करती है। इस तरह संकोच से आभासित वस्तुयें उसका ही परिमित रूप होने के कारण सत्य है एवं प्रकाशरूप ही हैं। सृष्टि के पहले भी वे सूक्ष्मरूप में प्रकाशरूप में परमशिव में ही रहती है, जैसे वृक्ष अपने बीज में रहता है। [31] परन्तु वेदान्तसार में विश्व प्रक्रिया अध्यारोपवाद पर अवलम्बित है। अतः वस्तुयें केवल अज्ञान के कारण ही दिखाई देती हैं, यथार्थसत्ता केवल ब्रह्म ही है, शेष सब असत्य है। जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम पैदा हो जाता है, इसी तरह ब्रह्म में विश्व का अध्यास हो जाता है एवं दोनों का कारण अज्ञान है और उसकी निवृत्ति में केवल यथार्थ वस्तु ही रह जाती है। इसी को अपवाद नाम से अभिहित किया है। [32]

पुरुष के पश्चात् शिव तक ग्यारह तत्त्वों की देन भी प्रत्यभिज्ञाहृदयम् की वेदान्तसार से प्रमुख विशेषता है। वह केवल कल्पना की उड़ानमात्र नहीं है, अपितु वैज्ञानिक एवं महासिद्धों की साधना की चरमानुभूति का सत्य निरूपण है एवं सृष्टि आदि की यथार्थ व्याख्या करता है। जबकि वेदान्तसार में कल्पित माया पर अवलम्बित है, जिसके सम्बन्ध में अनुभव का प्रश्न ही नहीं अर्थात् उसका अपना

30. "मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः।" –प्र० हृ०, पृ० 97

31. "संकोचोऽपि विचार्यमाणः -- चिन्मय एव।" –प्र० हृ० पृ० 32
"तथाहि सा -- संकोच गृह्णाति।" –पृ० 34-35
"चितिसंकोचात्मा -- वटधानिकावत् संकुचिताशेष विश्वरूपः।" –तदेव, पृ० 31
"तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः।" –तदेव, पृ० 29

32. वे० सा०, पृ० 63

रूप भ्रामक है। उसकी उपस्थिति व्यावृत्तिमूलक है, अनुवृत्तिमूलक नहीं। अतः प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में निरूपित सिद्धान्त यथार्थ होने से सर्वसंग्राह्य होने से विश्व की उचित व्याख्या करता है।

वेदान्तसार में सदानन्द की ईश्वर एवं जीव की परिकल्पना प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में निरूपित ईश्वर एवं पशु (जीव) के साथ मेल नहीं खाती। सदानन्द ने उनको समष्टि–व्यष्टि अज्ञान से उपहित बताकर उनका स्वरूप भ्रामक–सा कर दिया है, जिससे ईश्वर के अकेले अस्तित्व पर सन्देह होने लगता है। परन्तु क्षेमराज के ईश्वर एवं पशु को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है, प्रत्युत् उसमें वैज्ञानिक सत्य प्रतीत होता है।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में विश्व को व्यावहारिक रूप में सत्य मानने के साथ–साथ ही पारमार्थिकरूप से भी सत्य ही माना गया है। शिव सत्य है, अतः उसकी रचना भी सत्य ही है। सत्य से असत्य पैदा नहीं हो सकता। सकल प्रमाता–प्रमेय प्रपञ्च जो हमारे व्यवहार में देखे जाते हैं, उनमें प्रत्यक्ष रूप से अनुभव होता है और लाभ–हानि आदि भी स्पष्ट होते हैं। अतः हम उसे झुठला नहीं सकते। प्रलय के पश्चात् यह समस्त विश्व परमशिव से ऐकात्म्यभाव से रहता है। परन्तु वेदान्तसार में विश्व के पारमार्थिकरूप से सत्य होने का कोई विवरण नहीं मिलता। वे व्यावहारिकरूप में ही उसे भिन्न या असिद्ध करने का प्रयास करते हैं, जैसे रस्सी में से सर्पत्व भावना को, तो पारमार्थिकरूप के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है ? फिर भी अनुमान लगाया जा सकता है कि जीवन्मुक्त को तो सांसारिक व्यवहार करना ही पड़ता है। जब तक देह रहती है और ऐसा उल्लेख भी है कि वह समभाव से एवं अनिच्छा से शुभकर्म ही करता है।[33] तो कर्म कहाँ करता है ? यदि ज्ञान होने के पश्चात् भी विश्व का अस्तित्व रहता हो, तभी ऐसा कर सकता है। अतः विदेह मुक्ति में भी विश्व का अस्तित्व रहता ही होगा, यद्यपि उसके दृष्टिकोण में अन्तर अवश्य आता रहेगा अर्थात् विश्न को वह अपने से भिन्न नहीं मानता होगा। इस तरह कहा जा सकता है, यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तो भी अनुमान से एवं अनुभव से भी ऐसा कहा जा सकता है।

---

33. वे० सा०, पृ० 101

षष्ठ अध्याय

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का काश्मीर शैवदर्शन को योगदान

जिस प्रकार एक व्यक्ति को जल में डुबोने के बाद पूछा जाये कि आप क्या चाहते हैं ? तो उसका सीधा-सरल प्रत्युत्तर होगा – शीघ्र ही बाहर निकालो। आज के इस वैज्ञानिक युग में हम इस 'शीघ्रता' की ही उधेड़बुन में जीवन-संघर्ष करते हुए निरन्तर नदी की अबाधित धारा की भाँति अमृतानन्द-समुद्र की अन्वेषणा करते हुए अग्रसर हो रहे हैं। वास्तव में आज का व्यावहारिक जीवन-अनुभव किसी भी क्षेत्र में, चाहे खाना-पीना हो या पहनना हो, कहीं यात्रा करनी हो या मधुर-संगीत ही सुनना आदि हो – इस शीघ्रता से अछूता नहीं है। इसीलिए प्रत्येक क्षेत्र में चाहे, जीवविज्ञान हो, रासायनिक-भौतिकी हो या संगीत-कला या साहित्य इत्यादि हो – उसमें परिवर्तन इसी की अपेक्षा से निरन्तर हो रहा है। परन्तु ऐसा होने पर भी हम आध्यात्मिक क्षेत्र में उतनी रुचि न दिखाने से शान्ति-लाभ नहीं कर रहे हैं। वास्तव में हमारा आध्यात्मिक पिछड़ापन ही, आज की अत्यधिक सुख-सुविधाओं के होते हुए भी, हमारी वर्तमान अपूर्ति, दुःख, निराशा, मोह एवं निरन्तर मानसिक वेदना आदि का कारण है। सज्जन पुरुष स्वभाव से ही दयालु होते हैं एवं उनका जीवन ही परोपकार के लिए होता है। वे अपने सुखःदुःख की अपेक्षा न करके विश्वकल्याणार्थ सदा तत्पर रहते हैं।

काश्मीर शैव-दर्शन के आचार्यों के अनुसार विश्व को अज्ञानअग्नि से तपते हुए देखकर ही दयालु स्वभाव परमेश्वर श्रीकण्ठनाथ के रूप में कैलाश अद्रि पर आविर्भूत हुए एवं विश्व में कल्याणरूपी अमृत जलवर्षा करने के लिए आचार्य प्रवर सिद्ध दुर्वासा को उपदेश दिया।[1] परम्परा में प्राप्त उसी अमृतमय उपदेश का

1. "शैवादीनि रहस्यानि -- रहस्यं कुरु तादृशम्।" –तं० आ० भा० 1, पृ० 27-28

वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलाचार्य, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त प्रभृति उद्‌भट विद्वानों ने यथावत् दोहन करके मौखिक एवं लिखितरूप से श्रद्धालुओं को पान कराया। मौखिकरूप से सभी को सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकता, अतः महान् ग्रन्थों की रचना की गई। उनमें से आचार्य प्रवर उत्पलाचार्य की 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' जिसका नाम भी एवं लक्ष्य भी अपने शिवरूप आत्मदेव की पहचान है, अत्यन्त सार्थक है। इसकी महत्ता इसी बात से जानी जा सकती है कि इस ग्रन्थ के नाम पर ही इस दर्शन को 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' नाम से अभिहित किया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस ग्रन्थ में इस दर्शन के सिद्धान्तों को व्यापक दृष्टि से निरूपित किया गया है एवं साथ-साथ दूसरे मतों का विशेषकर अद्वैत वेदान्त का तर्कपूर्ण वैज्ञानिक ढंग से खण्डन करके स्वमत प्रतिष्ठित किया गया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को शीघ्रता से, सरलता से प्राप्त करना चाहता है, परन्तु 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' को समझने के लिए अत्यधिक समय ही अभिप्रेय नहीं है, प्रत्युत् प्रकाण्ड विद्वत्ता की भी आवश्यकता है। तर्क प्रधान होने के कारण सूक्ष्म-विवेक बुद्धि की परमावश्यकता है। अतः स्थूल बुद्धि, जिसने शास्त्रों का अभ्यास न किया हो, इसे नहीं समझ सकता है। इसी उत्कट समस्या को दृष्टि-पटल पर रखते हुए राजानक क्षेमराज ने विश्व-विष (अज्ञान) शान्ति के लिए परोपकार-हृदय-प्लावित होकर इस महान्कृति को दही की तरह छिछोलकर शुद्ध मक्खनरूपी सार के रूप में 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' लघु ग्रन्थ प्रणीत किया है। जिस प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में शांकरोपनिषत् अर्थात् शिव-सम्बन्धी उत्तमज्ञानरहस्यों (मंगलकारी उपदेशों) का सारतत्त्व है, उसी प्रकार इसमें उसका भी सारतत्त्व निरूपित किया गया है और तर्क सम्बन्धी बातों को छोड़ दिया गया है। उचित ही है जिसको मक्खन मिल जाये, छाछ से क्या काम ? यदि कोई इसे भी पढ़ेगा ही नहीं, तो क्षेमराज बेचारा क्या करेगा ? तभी तो उन्होंने कहा है कि जिन पर शंकर-शक्तिपात हो गया है अर्थात् जो उसकी इच्छा से उसको पाने के लिए आतुर हैं, श्रद्धालु हैं, उनके लिए सहज उपदेश इसमें कहा गया है।[2] इस तरह प्रत्यभिज्ञादर्शनरूपी सागर को प्रत्यभिज्ञाहृदयमरूपी गागर में केवल बीस सूत्रों के माध्यम से भर दिया है, जो जहाँ उनके उत्कृष्ट अनुभव एवं प्रकाण्ड विद्वत्ता का

2. "शाङ्करोपनिषत्सार -- संसारविषशान्तये।" -प्र० हृ०, पृ० 19 तथा पृ० 20, 100

प्रदर्शन करती है, वहीं काश्मीर शैव दर्शन की सहज अनुभूति प्राप्त करने वाले श्रद्धालुओं के समय और शीघ्रता की माँग को भी पूरी करता है। विशेषतया आज के समय में तो यह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

इन बीस सूत्रों की व्याख्या भी स्वयं क्षेमराज द्वारा ही की गई है,[3] जो सोने पर सुहागे का काम देती है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस दर्शन के सिद्धान्त कपोल-कल्पित न होकर साक्षात् आत्म-अनुभूति के यथार्थ सत्य हैं। अतः बिना अनुभव के कोई इसके मर्म की बात को कैसे पहचान सकता है ? सूत्र तो होते ही संकेत मात्र हैं और उन संकेतों का यथार्थ तात्पर्य उनका जानकार ही स्पष्टतया समझा सकता है, अन्य नहीं। अतः अर्थ को अनर्थ से बचाने के लिए उसकी स्वयं व्याख्या करना भी एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। उदाहरणतया वेदों में 'अजेन यष्टव्यम्' कहा गया है, जिसकी ऋषियों ने तो – "अन्न के द्वारा यज्ञ करना चाहिए" – व्याख्या की, परन्तु दुर्जनों ने "छागेनाजेनयष्टव्यम्" – "बकरे के द्वारा यज्ञ करना चाहिए" – ऐसा अर्थ कर अनर्थ बना दिया।[4] इसी तरह के अन्य सहस्त्रों उदाहरण हैं। अतः बात स्पष्ट है। दूसरे इन सूत्रों एवं भाष्य की भाषा इतनी सरल, सुबोध एवं मधुमय है, जो जहाँ क्षेमराज के मधुरहृदय की कोमलता सरसता तथा ऋजुता की परिचायक है, वहाँ अध्येता को शब्दाडम्बर के गहने-कण्टीले वन से साफ-साफ बचाकर तात्पर्यरूपी लक्ष्य का मार्ग सहज ही हृदयंगम कर देती है। अतः प्रत्येक द्वारा सहजबोध्य होने से श्रद्धालुओं को इस दर्शन की ओर आकर्षित करने में भी भाग लेती है।

अपने लघुरूप एवं काश्मीर शैवदर्शन के साररूप होने के कारण इसने इस दर्शन को प्रचारित करने में एवं विश्व प्रसिद्धि दिलाने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इसी कारण इस दर्शन की असंख्य अन्य कृतियों में इसका स्थान अद्वितीय है। दक्षिण के शैववादी भी इससे प्रभावित हैं और वी.आर. सुब्राह्मण्य अय्यर ने 1918 में, मद्रास में इसका तेलगु में सम्पादन किया एवं एम. लक्ष्मीनरसिंह ने भी 1920 में, अमलपुरम में इसका सम्पादन तथा तेलगु में व्याख्या की। प्रस्तुत 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के अंग्रेज़ी अनुवादक कुर्ट.एफ. लेडक्कर ने भी इसकी अन्य काश्मीरी कृतियों से

3. "कृतिस्तत्रभवन् -- राजानकक्षेमराजाचार्यस्य।" –प्र० हृ० पृ० 100

4 लेख -- पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्त जी शास्त्री, कल्याण। गीता प्रेस गोरखपुर, 1949

5. प्र० हृ०, भूमिका, पृ० 4-5

विशेषता स्वीकार की है एवं इसी कारण इसका अनुवाद लिखा है। [5] जे.सी. चैटर्जी इसकी प्रशंसा में कहते हैं कि इसका अद्वैत शैव में वही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो सदानन्द द्वारा प्रणीत वेदान्तसार को वेदान्त दर्शन में प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि यह इस दर्शन के सहज परिचय एवं सिद्धान्तों के सारतत्त्व को अभिव्यक्त करती है। [6]

साहित्यिक दृष्टि से यह उन धार्मिक ग्रन्थों से सम्बन्ध रखती है जिनमें सिद्धान्त को स्पष्ट एवं साररूप से व्याख्या सहित प्रतिपादित किया जाता है और अनर्गल बातों का आश्रय नहीं लिया जाता। इसको पुराणों, महाकाव्यों की तरह बोझिल नहीं किया गया है और न ही तर्क की कसौटी पर कसा गया है। अतः सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए साहित्यिक दृष्टि से भी यह काश्मीर शैव दर्शन की उत्तम कृति है।

काश्मीर शैव दर्शन के लगभग सभी सिद्धान्तों का संक्षेप में विवरण दिया गया है। जहाँ छत्तीस तत्त्वों, सात प्रमाताओं एवं परमशिव के पाँच कृत्यों का संक्षिप्त सारग्राही प्रतिपादन किया गया है, वहाँ परमशिव की चितिशक्ति का विशद निरूपण किया गया है। वास्तव में काश्मीर शैव दर्शन के अन्य ग्रन्थों में इस शक्ति का संक्षिप्त रूप में ही दिग्दर्शन होता है, परन्तु प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में इस कमी को पूरा करके शक्ति और शिव की एकता पर बल दिया है। सम्यक् पठन से मालूम होता है कि परमशिव से अभिन्न पराशक्ति, चिति एवं परावाक् का ही सारा विश्व–प्रपञ्च खेल दिखाया गया है, जो अपनी अवान्तर सहायक शक्तियों से सब प्रकार का नियन्त्रण करके पशु, पाश, पति का चक्र घुमाती रहती हैं। परमशिव की इस पराशक्ति का ही शुरू से अन्त तक प्रभुत्व दिखाया गया है, जो औचित्यपूर्ण ही है। क्योंकि शक्ति के बिना शिव शव ही है। दर्शन शक्ति का ही होता है। आज का युग तो इस शक्ति के भौतिक अंश से अनन्त चमत्कार दिखा रहा है। अतः शक्ति के विकसितरूप को दिखाकर इस दर्शन के प्रति महान् उपकार किया है। व्यावहारिक जीवन में भी हम देखते हैं कि जीव के शरीर में तत्त्व (प्रमेय वस्तु), नित्य शब्द एवं शक्ति की शरीर निर्माण, व्यवहारसंचालन एवं नियन्त्रण के लिए, परमावश्यकता होती है। इसी प्रकार चिति, परावाक्, पराशक्ति की यथार्थ सत्ता परम शिव स्वीकार कर वैज्ञानिक सत्य को उभारा है और विश्व की सर्वग्राह्य उचित

प्र० हृ०, सम्पादक जे०सी०, चैटर्जी, पृ० 5

व्याख्या की है, जिससे काश्मीर शैवदर्शन की नींव को सुदृढ़ करके वेदांतियों की माया आदि की तरह शेष दर्शनों के विश्व की काल्पनिक आधार सम्बन्धी व्याख्या का निराकरण किया है अर्थात् उनको शिव की इस शक्ति के ही अंशरूप बतलाया है। [7]

क्षेमराज की अन्य दर्शनों सम्बन्धी काश्मीर शैवदर्शन को एक महत्त्वपूर्ण देन उनकी विशाल समन्वय दृष्टि है। प्रायः देखा जाता है कि एक मत वाले दूसरे के मत का खण्डन करना परम ध्येय मानते हैं। परन्तु क्षेमराज ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, शून्य, प्रकृति आत्म तत्त्व को प्रतिपादित करके, उनको इसकी स्वेच्छा से स्वातन्त्र्य महिमा द्वारा परिगृहीत संकोच के तारतम्य की भिन्न-भिन्न अवस्थायें दिखाया है, जैसे एक ही नट नाटक में स्वेच्छा से कई तरह की भिन्न-भिन्न भूमिकायें निभाता है। जैसे हाथ, पाँव, आँख आदि आदि एक ही शरीर के पूरक हैं एव स्वयं में भी हाथ आदि के रूप में उस गुण के पूरक हैं, इसी तरह सभी धर्म अपनी-अपनी निजी महत्ता भी रखते हुए एक ही विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय परमशिव की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। इस उदार दृष्टिकोण से सभी दर्शनों का आदर प्राप्त करने में यह अपना ही स्थान रखता है। [8]

उपायों के निरूपण में प्रत्यभिज्ञा में वर्णित उपायों में से एक मुख्य उपाय स्वस्वरूप की पहचानरूप पञ्चविधकृत्यकारित्व एवं संकल्पक्षय का दिग्दर्शन कराकर आगम सम्मत शक्तिसंकोचविकास, वाहच्छेद, आद्यन्तकोटिनिभालन अवान्तर उपायों से भी परिचय कराया है, जिससे साधक अपनी सुगमतानुसार उपाय का अभ्यास कर सके, जिससे परमानन्द लाभ प्राप्तिरूप शिवत्व स्थिति अवस्थित हो सके। इस तरह प्रत्यभिज्ञा में निरूपित उपायों के अतिरिक्त अन्य उपायों का परिचय देना भी काश्मीर शैवदर्शन में योगदान ही है। [9]

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का भी सारतत्त्व बतलाते हुए क्षेमराज कहते हैं कि इसमें वर्णित उपदेशानुसार जो भी साधक ज्ञानरूपी अमृतसमुद्र में विश्व को सभी ओर से झाग की तरह देखता है, वह साक्षात् शिव ही है अर्थात् जिस प्रकार समुद्र और झाग

7. प्र० हृ०, सू० 1, पृ० 20, 21, 22 टीका
8. "तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः।" -प्र० हृ० सू० 8, पृ० 40 तथा भाष्य।
9. "अयंच उपायो मूर्धन्यत्वात् प्रत्यभिज्ञायांप्रतिपादितत्वात् आदौ उक्तः। शक्तिसंकोचादयस्तु -- तथापि आम्नायिकत्वात् -- केनचित् प्रवेक्ष्यतीति।" -प्र० हृ०, पृ० 77-78

में अन्तर नहीं, अपितु एक ही रूप हैं, इसी प्रकार सब शिव ही है। इस शिवत्व दृष्टि प्राप्ति कराने हेतु उन्होंने इस लघु ग्रन्थ की रचना की है, अतः प्रकारान्तर से सहजरूप में तत्त्वोपदेश देने में वे काश्मीर शैव दर्शन में अपना उत्कृष्ट स्थान रखते हैं।[10]

अतः इन बातों से स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का काश्मीर शैव दर्शन को प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है और इस दर्शन का यह अद्वितीय एवं सहज परिचय करा देने वाली कृति है। आवश्यकता है, इसके गहन अध्ययन एवं वर्णित उपदेश पर मनन-चिंतन तथा अनुभव की, तभी क्षेमराज का लक्ष्य 'विश्व-विषं-शान्तये' पूरा हो सकता है एवं जन-जन के कल्याण हेतु इस दर्शन के आविर्भाव का पुरुषार्थ सार्थक।

---

10. "मध्यबोधसुधाब्धि विश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमं, यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः।" –प्र० हृ, पृ० 99

सप्तम अध्याय

वेदान्तसार और काश्मीर शैवदर्शन

वेदान्तसार अद्वैत वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों का सिंहावलोकन है। इसीलिए वेदान्त दर्शन को सहज ही समझने के लिए इसका स्थान अद्वितीय है। वेदान्त शब्द उपनिषदों के लिए भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि उनमें वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का सारतत्त्व विद्यमान है। महर्षि बादरायण ने इन उपनिषदों के आधार पर ही ब्रह्मसूत्रों की रचना की एवं उन पर अनेक विद्वानों द्वारा भाष्य लिखे गये, जिनमें आचार्य शंकर (788-820) का भाष्य अपनी अद्वैत विचारधारा के कारण जगत् प्रसिद्ध है और प्राय: इसी को अद्वैत वेदान्त के नाम से जाना जाता है। नवमीं शताब्दी तक यह दर्शन पूर्णतया विकसित एवं प्रसिद्ध हो चुका था। दूसरी ओर वर्तमान काश्मीर शैव दर्शन का उद्भव एवं विकास नवमीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं के अन्तर्गत धीरे-धीरे हुआ, जबकि अन्य दर्शन अपने पाँव अच्छी तरह जमा चुके थे। इस दर्शन के आचार्य एक-दूसरे के बाद लगातार मिलते गये, जो एक ओर तो समस्त विद्याओं में विशारद थे, दूसरी ओर आध्यात्मिक अनुभूति में भी पूर्ण थे। उन्होंने पूर्व प्रचलित दर्शनों के सिद्धान्तों आदि का सूक्ष्म निरीक्षण करके, अपनी विद्वत्ता एवं साधना के बल पर उनमें खटकने वाली बातों का निराकरण करके नव सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वेदान्तसार अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के ही अनुरूप सदानन्द ने लिखा है, जिनका समय सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। अत: इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों को निरूपित करने के लिए उसी दृष्टिकोण का आश्रय लिया गया है, यद्यपि कुछ एक बातों में विकास भी दिखाया गयाहै। जैसे- ब्रह्म और आत्मा का विकसित रूप में निरूपण है। ईश्वर-जीव, सूत्रात्मा-तैजस, वैश्वानर-विश्व समष्टि-व्यष्टि रूप में वन एवं वृक्ष की तरह क्रमश: कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीरों में अवस्थित किये हैं। अज्ञान को भी इसी तरह समष्टि-व्यष्टि रूप में जलाशय-जल की तरह रखा है परन्तु शाङ्कर वेदान्त

माया, अविद्या या अज्ञान में भेद नहीं किया है। फिर भी पञ्चदशी में माया और अविद्या दो भेद ईश्वर और जीव के अज्ञान[1] सम्बन्धी वर्णित हैं। अतः अद्वैत वेदान्तानुसार ही इसमें ब्रह्मज्ञान कराने के लिए "नेति-नेति" अर्थात् अभावात्मक दृष्टिकोण का दिग्दर्शन – कराया है। जैसे – "वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म", "अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु[2]" जो "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" उपनिषद् वाक्य का ही रूपान्तर है। गुरु शिष्य को अध्यारोप द्वारा समझाता है कि यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, अतः सत्य नहीं है। सत्य वस्तु केवल ब्रह्म ही है, इस बात को अपवाद द्वारा समझाता है। तात्पर्य यह है कि जिस तरह रस्सी में भ्रम से साँप की प्रतीति होती है, उसी तरह ब्रह्म में अज्ञान से जगत् की प्रतीति होतीहै, अध्यास होता है एवं जैसे ज्ञान (प्रकाश) द्वारा रस्सी का भान होने से 'सर्पत्व' का अपवाद (निरसन) होता है, उसी तरह ज्ञान द्वारा सत्यवस्तु ब्रह्म का भान होने द्वारा जगत् का अपवाद हो जाता है। इस तरह अध्यारोपापवाद द्वारा गुरु शिष्य को "तत्त्वमसि" द्वारा "त्वम्" पदार्थ को शोधन कराकर[3] "अहंब्रह्मास्मि" का अनुभव करने को कहता है,[4] जिस भावना के दृढ़ होने से वह जीवन्मुक्त एवं देह छोड़ने पर सर्वथा मुक्त होकर ब्रह्म से उसी प्रकार एक हो जाताहै, जैसे तप्त लोहे पर जल की बूँद पड़कर तद्रूप हो जाती है।[5]

दूसरी ओर काश्मीर शैव दर्शन में समस्त वस्तुओं को एक शिव की ही अभिव्यक्तियाँ मानकर भावात्मक दृष्टिकोण को अपनाया गया है।[6] वे कहते हैं कि यदि शिव (ब्रह्म) सत्य है, तो उसकी अभिव्यक्तियाँ असत्य कैसे हो सकती हैं ? एक चेतन वस्तु से एक जड़ वस्तु का आविर्भाव हो ही नहीं सकता। यह तो व्यावहारिक अनुभव की बात है कि आम से आम ही पैदा होता है कोई पशु नहीं। तो शंका हो सकती है कि शिव से शिव ही आम की तरह पैदा होना चाहिए ? ये विविध प्रकार की विश्व वैषम्यता क्यों ? तो इसका समाधान यह है कि परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति, जो उनसे अभिन्न है, का ही यह चमत्कार है।[7] वह विश्व की

---

1. पं० द० 1/16, 17
2. वे० सा०, पृ० 14
3. वे० सा०, पृ० 66
4. तदेव, पृ० 82-83
5. तदेव, पृ० 99, 105
6. "न तु वस्तुतः अन्यत् -- किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।" –प्र० हृ०, पृ० 29
7. "स्वतन्त्रशब्दो -- चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते।" –प्र० हृ० पृ० 25

रचना अपनी ही भित्ति पर स्वेच्छा से दर्पण-नगर की भाँति अभेद होते हुए भी भेद-सा प्रकट करती है और स्वतः संकोच ग्रहण करती हुई नट की तरह विचित्र भूमिकाओं में अनुरूप प्रमाता-प्रमेयों की विविध एवं असंख्य रूपों से अभिव्यक्ति करती है।[8] वह चेत्य (प्रमेय) के अनुरूप ही संकुचित हो जाती है। अतः शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त एक चिति ही नानाविध रूपों में भासित होने से यथार्थ सत्य है, दूसरा कोई है ही नहीं।[9] इस प्रकार की विचारधारा से यह वेदान्तसार में निरूपित दृष्टिकोण से सर्वथा विरोध रखने वाला प्रतीत होता है- वह "जगत् मिथ्या" बतलाकर सत्य का ज्ञान कराना चाहता है तो यह "जगत् सत्य है" इस दृष्टिकोण द्वारा सत्य का ज्ञान कराना चाहता है।

सत्य दो नहीं हो सकते, क्योंकि इस तरह मानने से अद्वैत स्थापित नहीं हो सकता। अतः इनका भी समन्वय करने के लिए एक तीसरा सत्य मानना पड़ेगा, इस तरह मानते जाने से आनन्त्य दोष आ जायेगा, जो अद्वैत में स्वीकार्य नहीं है। अतः सत्य एक ही है और जितने भी दर्शन, मत, धर्म आदि प्रचलित हैं, वे सब अपने-अपने दृष्टिकोण से उस एक सत्य तक पहुँचने के लिए भिन्न-भिन्न मत अपनाये हुए हैं, जो एक गन्तव्य स्थल तक पहुँचने के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों जैसी भूमिका निभाते हैं। यह ठीक है कि कोई मार्ग कण्टीली-झाड़ियों से, गह्वरों-पर्वतों से आकीर्ण हो और कोई पैदल, कोई वायु-मार्ग आदि से गमनीय हो, अतः इन मार्गों द्वारा सुख-दुःख, देरी-शीघ्रता आदि स्वाभाविक ही है, इनकी यात्रा-सुविधा-तारतम्य से, परन्तु हम किसी मार्ग का यह कहकर निराकरण नहीं कर सकते कि यह गन्तव्य स्थल तक नहीं पहुँचाता। यही बात सभी दर्शनों के प्रति स्मरणीय है अर्थात् वे देर-सवेर एक ही परमार्थ सत्य तक पहुँचाते हैं, चाहे उनके सिद्धान्तों में कितना ही परस्पर-भेद क्यों न हो, चाहे योग हो, चाहे भोग हो, कुछ भी क्यों न हो -- सत्य एक है। अतः सबका लक्ष्य वही एक है, चाहे राम कहो, रहीम कहो या माता कहो।

इस तरह वेदान्तसार का अभावात्मक दृष्टिकोण एवं काश्मीर शैव-दर्शन का भावात्मक दृष्टिकोण दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं- एक ही परमार्थ तत्त्व तक पहुँचने के। दोनों का लक्ष्य अपने ब्रह्मरूप या शिवरूप स्वरूप का ही बोध कराना है।

---

8. प्र० हृ०, पृ० 25, 26, 41, 44
9. तदेव, पृ० 22, 34

जिस प्रकार एक अन्धे के सामने लाल-पीला-नीला इत्यादि सहस्त्रों रूपों में प्रकाश दिखाया जाये, परन्तु उसके लिए भैंस के सामने बीन बजाने की तरह व्यर्थ ही होगा, क्योंकि उसको कुछ भी नहीं दिखाई देगा। इसी तरह वेदान्तवादी चाहे कितना जगत् को मिथ्या बतलायें या शैववादी कितना ही जगत् को सत्य बतलायें, यदि जीव को स्वरूपज्ञान नहीं होता, तो ये सब व्यर्थ आलापमात्र ही होंगे ? प्रयोजन तो स्वस्वरूप ज्ञान से है- मिथ्या व सत्य कहने से नहीं ? क्या कोई वेदान्तवादी कहने का साहस कर सकता है कि उनके दर्शन के अस्तित्व के पूर्व कोई ब्रह्मज्ञानी ही नहीं था ? या शैववादी कह सकते हैं कि उनके दर्शन् की अनुपस्थिति में शिव ही नहीं था या कोई जीवन्मुक्त ही नहीं था ? निस्सन्देह ऐसी अनर्गल बात कोई नहीं कह सकता। समय बदलता रहता है। तद्नुसार परिस्थितियाँ करवटें लेती रहती हैं एवं तद्नुसार ही व्यक्ति का रहन-सहन, खाना-पीना, बोलचाल का ढंग एवं विचारधारायें बदलती रहती हैं तथा तदनुकूल ही मत-मतान्तरों का युगानुकूल आविर्भाव या सन्त-महात्माओं एवं अवतारी पुरुषों का अवतरण होता है। यदि पहले नंगे आकश के नीचे ऋषिकुल थे, तो उनके अनुकूल ही छात्र साधारण रहन-सहन वाले होते थे और आज वातानुकूलित साज-सज्जित भवनों में विश्वविद्यालय हैं, तो तदनुरूप ही छात्र हैं। आज कोई बड़े शहर में गाँवों की तरह छकड़े की सवारी करना चाहेगा, तो कितना भद्दा लगेगा ? कहने का तात्पर्य यह है कि केवल अभावात्मक या भावात्मक दृष्टिकोण होने से किसी को तिरस्कृत या स्वीकृत नहीं कर सकते, जबकि लक्ष्य दोनों का एक ही हो। शंकराचार्य, बुद्ध या वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द प्रभृति विद्वानों का मत जगत् का सर्वथा मिथ्यात्व प्रतिपादन करना नहीं था, प्रत्युत् स्वरूपज्ञान या यथार्थ तत्त्व का बोध कराना ही अभिप्रेय था। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि एक बच्चा जब किसी बात को नहीं मानता, तो उसको कहते हैं कि अमुक-अमुक वस्तु गन्दी है, क्या तू उसी को लेना चाहेगा ? अमुक वस्तु अच्छी है एवं अच्छे व्यक्ति उसको लेते हैं, तू कौन-सी लेगा ? तो वह झट अच्छी कही जाने वाली वस्तु लेने को तैयार हो जाता है। इसी तरह वेदान्तसार आदि के लेखक विद्वान् लोगों की मनोवैज्ञानिक स्थिति को जानते थे और यथार्थ वस्तु का निरूपण करने के लिए इस तरह के दृष्टिकोण को सर्वोत्कृष्ट मानते थे। यदि ऐसी बात नहीं है, तो वेदान्तसार आदि में वर्णित जीवन्मुक्त के लक्षणों में जगत् के प्रति समभाव रहने का, शास्त्रविधि अनुसार शुभ कर्म आदि करने का निरूपण न किया जाता ? क्योंकि यदि वास्तव में ही जगत् मिथ्या होता, तो जीन्मुक्त की दशा में ज्ञान प्राप्ति होने से उसका

लोप हो जाता या एक के ज्ञान से सबको ज्ञान हो जाता ? अतः स्पष्ट है कि स्वस्वरूप के यथार्थज्ञान में जगत् के प्रति पहले वाले दृष्टिकोण में अन्तर आ जाता है।[10] वह उसको आत्मस्वरूप समझने लगता है, जिसको वह पहले अपने से नितान्त भिन्न समझता था। यदि ब्रह्म जगत् से पृथक् होता एवं आत्मा जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं से भिन्न होती, तब जगत् की यथार्थता या तीनों दशाओं का खण्डन हमें सत्य की ओर न ले जा सकता। तब सब शून्य ही होता एवं समस्त शिक्षा व्यर्थ होती।[11] वास्तव में जगत् का नानात्व भूल के कारण प्रतीत होता है और भूल सुधार का अर्थ होता है– मत परिवर्तन। जैसे रस्सी में साँप का भान होना भूल है और उसका रस्सीरूप में ज्ञान पहले की सर्पत्व भावना में मत परिवर्तनमात्र है। वह तो पहले ही रस्सी थी और हमारे ज्ञान-अज्ञान से उसमें कोई अन्तर नहीं आता, इसी प्रकार जगत् ब्रह्म ही है (सर्वमिदं खलु ब्रह्म), परन्तु हम भूल के कारण इसे आत्मा से पृथक् मान रहे थे। सत्यज्ञान की प्राप्ति से तात्पर्य अनेकत्व का विनाश नहीं है, प्रत्युत् केवलमात्र अनेकत्व के भाव का अभाव है।[12] तात्पर्य यह है कि यह इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि है, जो जगत् के चित्र को ही बदल देती है और सब वस्तुओं का नये सिरे से निर्माण करती है। ऐसा दृष्टिकोण आत्मसाक्षात्कार की कोई पूर्व अवस्था नहीं, अपितु साक्षात् मोक्ष है।[13] अतः अद्वैत ज्ञान प्रतिपादन के लिए, जगत् के द्वैत का सर्वथा मिथ्यात्वज्ञान बताना नहीं है, अपितु द्वैतभावना की निवृत्ति कराना है। यदि ऐसी बात न होती, तो सुषुप्ति या प्रलयावस्था में द्वैत के अभाव की अवस्था में अद्वैत ज्ञान हो जाना चाहिए था ? परन्तु गुरु या शास्त्र आदि ज्ञान के साधन न होने से ऐसा नहीं होता है।[14] अतः शैववादी इसका इसलिए निराकरण नहीं कर सकते कि यह जगन्मिथ्यावादी है, क्योंकि वह तो उपचार के रूप में सत्य वस्तु का ज्ञान कराने का दृष्टिकोण है।

---

10. वे॰ सा॰, पृ॰ 99, 100, 101, बृहद॰ उप॰ 4-3-23 तः॰ 30
11. "यदि हि त्रयावस्थात्मविलक्षणं -- शून्यतापत्तिर्वा।" –माण्ड॰ उप॰, शां॰ भा॰ 2-7, भा॰ दर्श॰ भा॰ 2, पृ॰ 581, डा॰ र॰ कृ॰
12. "यत्र ही द्वैतमिव -- सर्वमात्मैवाभूत-विजानीयात्।" –बृहद॰ उप॰ 2-4-14
13. "नाप्रतीतिस्तयोऽवधिः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः।" –पं॰ द॰ 6-13, शां॰ भा॰ तै॰ उप॰ 2-1
14. पं॰ द॰ 2-41

काश्मीर शैवदर्शन अनुसार जगत् की उत्पत्ति शिव से ही होती है और उसी में विलीन होकर वटबीज या मयूराण्डरस की तरह सूक्ष्मरूप से ऐकात्म्य भाव से रहता है, जिसे चिदैक्य भी कहते हैं और इस चिदैक्य की अख्याति (निराकरण) ही विश्व की सर्जना का कारण है।[15] और यह अख्याति करने वाला तत्त्व शक्ति माना गया है, जिसे इसी कारण "निषेधव्यापाररूपा" कहते हैं।[16] तथा यह शक्ति कोई परमशिव से भिन्न वस्तु नहीं है, अपितु उसी के अभिन्नरूप पराशक्ति या स्वातन्त्र्यशक्ति का ही एक रूप है। परमशिव से विश्व इस तरह पृथक् करने से क्रमशः शिव से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक छत्तीस तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् का कारण शक्ति का चिदैक्य में अख्याति करना है, चाहे वह शिव का स्वातन्त्र्य हो या शक्ति की शक्तिता। वेदान्तसार में जगत् की सृष्टि अज्ञान (माया) से उपहित चैतन्य से दो शक्तियों की तरह स्वप्रधानता से निमित्त कारण होकर एवं स्वोपाधि-प्रधानता से उपादान कारण होकर – बतलाई है, जैसे मकड़ी तन्तुकार्य के प्रति चैतन्यांश की प्रधानता से निमित्तकारण एवं शरीर प्रधानता से उपादान कारण होती है।[17] इसी तरह मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि प्रक्रिया ब्रह्म से ही उस तरह स्वतः बतलाई है, जैसे मकड़ी स्वयं ही जाले को बनाती और निगल जाती है, जैसे पृथ्वी से विविध औषधियाँ निकलती हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश और रोम उत्पन्न होते हैं।[18] चूँकि वेदान्तसार उपनिषद् प्रमाण अनुसार ही रचा गया है,[19] इसीलिए उपनिषद् वाक्य के इस एक मकड़ी के दृष्टान्त को बतला दिया है, अन्य भी इसी तरह माने जाने चाहिए। तो इससे स्पष्ट है कि सृष्टि का उद्भव एवं विलय ब्रह्म में ही होता है। जो कहें अज्ञान से उपहित होकर क्यों कहा ? अज्ञान (माया) के सम्बन्ध में तो आगे कहा जायेगा, इधर इतना ही कहना है कि वह उसकी शक्ति है। प्रश्न उठता है कि यदि अज्ञान (माया) ब्रह्म की शक्ति है, तो वेदान्तसार में इसका स्पष्ट निर्देश क्यों नहीं, जैसे काश्मीर दर्शन

15. प्र० हृ०, पृ० 30
16. प० सा० भा० का० 4
17. वे० सा०, प० 31
18. मुण्ड० उप० 1-1-7 तथा "एवं सर्वमिदं विश्वंपरमात्मैवकेवलम्।" –यो० वा: 6-30-1, पृ० 49
19. वे० सा० पृ० 2

में शिव और शक्ति के सामरस्य को परमशिव मानने का स्पष्ट निरूपण है ? तो इस विषय में इतना ही कहना है कि यदि हम कहते हैं "सूर्य निकला" तो क्या ऐसा कहने की आवश्यकता है कि "सूर्य निकला साथ ही उसकी किरणें निकलीं" या "अग्नि लाओ कहें" तो ऐसा कहने की आवश्यकता है कि साथ ही उसकी उष्णता भी लाना। निस्सन्देह ऐसा व्यवहार कोई नहीं करता है, प्रत्युत् सूर्य से उसकी किरणें एवं अग्नि से उसका उष्णत्व इकट्ठे ही माने जाते हैं, उनको हम दो नहीं कह सकते। इसी तरह वेदान्तियों ने ब्रह्म से पृथक् शक्ति का उल्लेख नहीं किया। अज्ञान से उपहित ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है एवं उसी में सर्वज्ञत्व आदि गुणों का निरूपण है। इसका कारण यह है कि निर्गुण ब्रह्म तो अनुत्तर अवस्था है, पूर्ण अद्वैत की दशा है जिसे मन-वाणी आदि से अगोचर माना गया है।[20] तो उस दशा में वेदान्तियों ने सर्वज्ञत्वादि का जो उल्लेखादि नहीं किया, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह जड़ होता है या मात्र प्रकाशरूप होता है- उसमें सामर्थ्य नहीं होती ? क्योंकि जहाँ-जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ-वहाँ प्रकाशता अनिवार्य है एवं जो प्रकाशित है उसका प्रकाश अवश्य होता है और जहाँ उष्णत्व होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी- जल नहीं हो सकता।[21] अतः जैसा शैवों ने ऐसे ब्रह्म को जड़ के समान माना है, वह उचित नहीं है। दूसरे उस अनुत्तर ब्रह्म में सर्वज्ञत्व आदि गुण रहते अवश्य हैं, परन्तु उनका इसलिए निर्देश नहीं किया गया कि वह तो पूर्ण अद्वैत की दशा होती है, दूसरा कोई होता ही नहीं, तो किसकी अपेक्षा से सर्वज्ञत्व आदि गुण कहे जायेंगे ? क्योंकि ये सदा द्वयापेक्षी हैं। जैसे जब हम कहते हैं। "दिन है" तो इसका मतलब "रात भी है", चाँदनी रातें क्यों कहते हैं ? स्पष्ट है अन्धेरी रातें होने से ही ? यदि रातें एक समान ही होती तो भिन्न-भिन्न संकेतों की क्या आवश्यकता थी ? उस दशा में तो द्वैत का भाव होता ही नहीं, तो वह किससे किसको सूंघेगा, किससे किसका स्पर्श करेगा, किससे किसको सुनेगा आदि आदि।[22] तो इसलिए कहा गया है कि उस दशा से अवर

20. "अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।" -वे० सा० पृ० 1
"सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम्।" -यो० वा० पृ० द० 13/14
21. "यत्र पुष्पं तत्रगन्धोयत्राग्निस्तत्रसोष्णता।" -यो० वा० 6-31-49, पृ० 55
22. बृहद० उप० 2-4-14

दशा में ही सृष्टि होती है, जब अज्ञान (माया) शक्ति से उपहित होते हैं।[23] तो यह उसी प्रकार है, जैसे अनुत्तर दशा में तो शिव सृष्टि करते ही नहीं, उससे अवर दशा में निषेधशक्ति द्वारा ऐसा करते हैं। तो इससे यह तात्पर्य थोड़ा होता है कि परम शिव सृष्टि नहीं कर सकते, क्योंकि शक्ति भी तो उनकी ही है ? इसी तरह सगुण ब्रह्म कोई दूसरा नहीं होता, तथा अज्ञान (माया) भी उसी की शक्ति होती है। पहले कहा जा चुका है कि सदानन्द ने शुरू में प्रतिज्ञा की है कि वे उपनिषद् को प्रमाण मानकर चल रहे हैं। अतः जो भी प्रमाण उन्होंने उपनिषदों से दिये हैं, वे उनको अपने मत की पुष्टि के लिए ही देते हैं विरोध के लिए नहीं और न ही ऐसी बात हो सकती है कि उद्धृत प्रमाण के अर्धांश से वे सहमत होते हैं, अर्ध से नहीं ? क्योंकि ऐसा करने से तो प्रमाण का खण्डन हो जायेगा। "अध्यारोपः" शीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने "अज्ञान" का निरूपण भी "वेदान्तसार" में किया है और इस मत की पुष्टि के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् से "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्" इत्यादिश्रुतेश्च कहकर उद्धृत किया है[24]– शब्दों से स्पष्ट है "एकः" ब्रह्म या परमशिव हैं, देव (ब्रह्म, परमशिव) की आत्मारूपी शक्ति (माया या पराशक्ति) उससे अभिन्न है, जो सत्त्व, रजस्, तमस्, गुणों से युक्त है इसी को सदानन्द ने अज्ञान नाम से अभिहित किया है। दूसरे "शक्" शब्द सामर्थ्य का ही द्योतक है, किसी क्रिया के सम्पादन का ही द्योतक है। अतः यह तत्त्व देव की स्वरूपशक्ति है अर्थात् उसको अचलरूप से अपनी सत्ता में धारण किये हुये है, यह पदार्थ शक्ति के अतिरिक्त नहीं हो सकता। आचार्यवर शंकर ने भी आनन्दलहरी में इसका समर्थन किया है।[25] शक्तियुक्त ही ब्रह्म कार्य करने में समर्थ होता है, अन्यथा वह

---

23. प्रकाश सात रंगों से युक्त है ऐसा वैज्ञानिकों ने सिद्ध करके दिखा दिया है और प्रत्येक इसको स्वयं निरीक्षित कर सकता है– प्रिज़्म के द्वारा या इन्द्र धनुष से। एक गत्ते पर सात रंगों को चित्रित कर बल से घुमायें तो एक सफेद रंग ही दिखाई देगा। उस समय यद्यपि उसमें सात रंग होते हैं। परन्तु ऐकात्म्य की दशा हो जाने से नहीं दिखाई देते और जब उस गत्ते को स्थिर कर दिया जाये, तो सभी रंग पृथक्-पृथक् दिखाई देंगे– यही ब्रह्म की बात है। दियासिलाई में ऊष्मा नहीं अनुभव होती, रगड़ने पर होती है।

24. "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।" –श्वेत, उप० 3

25. आ० ला० 1, शां० भा० 2-1, 44, पं० द० 2, 47, भ० ग० 9-8, 10

कुछ नहीं कर सकता। इसी तरह "जीवन्मुक्तलक्षणम्" शीर्षक से वेदान्तसार में कहा गया है "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्णइव"[26] इनमें अद्वैत की अवस्था वाले ब्रह्मनिष्ठ होने पर विरोध नहीं रहता। इनसे सम्बन्धित ही ईशावास्योपनिषद् में "तदेजति तन्नैजति" मन्त्र है। यहाँ पर भी "एजृ कम्पने" का अर्थ क्रियापरक ही है।[27] वेदान्तसार के उपजीव्य ग्रन्थ पञ्चदशी में स्वामी श्रीविद्यारण्य ने कहा है वस्तुधर्म को नियमन करने वाली यदि शक्ति न हो, तो परस्पर अन्योन्य धर्म का संकर होकर जगत् नष्ट हो जायेगा। यदि यह शक्तिपदार्थ स्वसत्ता शून्य मिथ्या अभिप्रेय है, तो जगत् का नियामक कैसे हो सकता है ?[28]

काश्मीर शैव दर्शन के विद्वानों की तरह ही वर्तमान समय के इसी दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् एवं साधक स्वामी लक्ष्मण जी आक्षेप करते हैं कि एक ओर तो पुरुष को चैतन्य कहते हो और दूसरी ओर उसे क्रियारहित मानते हो अर्थात् क्रिया अज्ञान की मानते हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? एक क्रियाहीन चैतन्य कैसे हो सकता है एवं जड़ प्रकृति द्वारा उसके जन्म-मरण का नियमन कैसे सम्भव है ? चूँकि वेदान्तसार में अज्ञान (माया) की आवरण शक्ति से, अपरिच्छिन्न आत्मा के आवृत होने पर ही उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि माने गये हैं,[29] अतः यह प्रश्न इससे भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है। दूसरे "पुत्रादीनामात्मत्वखण्डनम्" शीर्षक के अन्तर्गत भी "अकर्ता चैतन्य" अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्याकर्ता श्रुतिवाक्य द्वारा भी प्रतिपादित किया है।[30] इसका सरल प्रत्युत्तर यह है कि जैसे किसी कमरे में बिजली का पँखा लगा हो और बटन आदि भी वहाँ ही लगा रखा हो और उस कमरे में बाहर से आने वाला व्यक्ति बिजली के होने पर भी वायु का आनन्द तभी ले सकता है, यदि बटन को दबाता है या बटन (स्विच) दबाने पर भी आनन्द नहीं ले सकता, यदि बिजली न हो। तो यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि बिजली का कर्तृत्व पँखा चलने पर ही कहा जायेगा, ऐसे यद्यपि बिजली विद्यमान हो, परन्तु उस व्यक्ति के लिए वह न होने के बराबर ही होगी। अतः विद्युत की शक्ति दूसरी वस्तु की अपेक्षा से

26. वे० सा०, पृ० 101
27. ईश० उप० 5
28. "वस्तुधर्मा नियम्येरन् शक्त्या -- विप्लवेत् जगत्खलु।" -पं० द० 3-39
29. वे० सा० पृ० 29
30. तदेव, पृ० 57, श्वेत, उप० 1-9

ही कही जायेगी। इसी तरह जब चैतन्य अनुत्तर रूप में होता है, उसका कर्तृत्व किसकी अपेक्षा से कहा जायेगा, क्योंकि वह तो पूर्ण अद्वैत की अवस्था होती है ? इसीलिए उसमें कर्तृत्व आदि अर्थात् प्रकाशता होने पर भी उसको कहा नहीं जाता है।[31] दूसरे एक अपरिच्छिन्न चेतना के जड़ द्वारा परिच्छिन्न होने की बात कही ?– उसका प्रत्युत्तर यह है कि माया उसकी अपनी ही शक्ति है जैसा कि पहले कहा जा चुका है और उस द्वारा उपहित होना किसी जञ्ज़ीर से बंधना नहीं, प्रत्युत् अपनी शक्ति के सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों का क्रमश: तत्-तद् अवस्था में प्राबल्य दिखाना है।[32] जब एक ब्रह्म ही सत्य है, तो माया को उससे भिन्न कैसे माना जायेगा ? भ्रम भी तो सत्य वस्तु का ही हो सकता है, असत्य का नहीं ? जैसे रस्सी में साँप प्रतीत होता है, तो साँप का यदि कहीं अस्तित्व है, तो तभी उसके समान और वस्तु में उसका भ्रम होता है ? सत्त्व की प्रधानता में ईश्वर और रजस्-तमस् की प्रधानता में जीव आदि भेदों के रूप में तारतम्य से भासता है और उस दशा में भी शुद्ध चेतना, ईश्वर एवं जीव की 'तप्तायः पिण्डवत्' एकता ही होती है और जब इन उपाधियों से निरसन अर्थात् सत्त्व-रजस् आदि के प्राबल्य को स्थिर कर देता है, तो एक शुद्ध चेतन रूप में ही भासता है।[33] समस्त विश्व की आभासमान दशा में भी वह विविक्त होकर भी अविविक्त ही रहता है, क्योंकि वह चैतन्य रूप है और चैतन्य (प्रकाश) को देश, काल आदि से सीमित नहीं किया जा सकता। दूसरे, इन ईश्वर प्राज्ञ आदि की दशा में भी स्वस्वरूपानन्द होता है, जो काश्मीर शैवदर्शन के जीवकी दशा में पञ्चविधकृत्यकारित्व की तरह ब्रह्म के ही रूप होने का

31. जैसे– वेदान्तसार, पृ० 101, जीवन्मुक्त के लक्षणों में निरूपित किया गया है– उस समय वह पूर्व पूर्ववासनानुसार कर्म करता हुआ भी तथा आरब्ध कर्मों के फलों को देखता हुआ भी तात्त्विक दृष्टि से उसी प्रकार नहीं देखता, जैसे जादू देखने वाला पुरुष जादूगर की बातों को जादू समझकर, "यह वास्तविक नहीं है"– इस प्रकार देखता हुआ भी नहीं देखता। तथा "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव।" बृहद० उप० 4-3-23 तः 30 तथा "सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति – कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च -- इति इह निश्चय।" –उप० सा० भा०, 2, 10-12 इनसे स्पष्ट है कि क्रिया को द्वैत की दशा में ही क्रिया माना जाता है।

32. "यथोल्लसति शक्त्याऽसौ -- शरीरेषुपलभ्यते।" –यो० वा० पं० द० 13/15

33. वे० सा०, पृ० 18-19 तथा 27

34. वे० सा० पृ० 24, 41, 47

स्पष्ट प्रमाण है।[34] जिस तरह शैव दर्शन में सब शिव ही है, उसी तरह वेदान्तसार में सब ब्रह्म ही है– ऐसा निरूपित है। क्योंकि वही जगत् का कारण, उससे समस्त प्रमाता, प्रमेयों की उत्पत्ति, प्रलय में लय एवं ईश्वर-प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ-तेजस, वैश्वानर-विश्व तथा महाप्रपञ्च की उससे तप्तायः पिण्डवत् एकता का सभी दशाओं में निरूपण किया गया है।[35] अज्ञान का अनिर्वचनीय होना उसकी अथाह ऐश्वर्यता का ही द्योतक है, अभावका नहीं। क्योंकि उसके कार्यों से स्पष्ट है। इस तरह यह काश्मीर शैवदर्शन की परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति की ही भाँति मानी जा सकती है। यह ठीक है कि शैव दर्शन में शक्ति और माया की पृथक्-पृथक् दशा है, परन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते कि वे स्वरूपतः भिन्न नहीं हैं। वेदान्तियों ने दो मानने के स्थान पर एक से ही सारा काम ले लिया है, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? अतः यह जड़ अभाव की प्रतीक नहीं, अपितु उस घनीभूतरूप की प्रतीक है, जिससे सब कुछ प्रकट हुआ।[36]

वेदान्तसार में निरूपित है कि अज्ञान से उपहित होना ही प्राज्ञ (जीव) आदि बनने का कारण है और अध्यारोपापवाद न्याय से अपने स्वरूप का ज्ञान होना ही मुक्ति है। मुक्ति के लिए साधना और गुरु उपदेश, शास्त्रादि का मार्ग निर्दिष्ट हैं।[37] साधना द्वारा तो चित्त की एकाग्रता या बुद्धि आदि शुद्ध होने से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, पाप क्षय हो जाते हैं। साधना के बिना उपदेश देने के विधान नहीं हैं, क्योंकि जब तक मन शुद्ध नहीं हो जाता, सभी उपदेश पत्थर पर जल बहने की तरह उसको निर्मल नहीं कर सकते। इसीलिए मन को संसार की जड़ मानते हुए पहले साधना द्वारा इसका परिशोधन आवश्यक समझा जाता है। इससे द्वैतभाव थोड़ी देर के लिए ही समाप्त होता है। अतः शाश्वत

35. वे० सा० पृ० 31, 35, 36, 47, 50, 63

36. जैसे आकाश को शून्य कहते हैं, परन्तु वैज्ञानिकों ने इसमें अथाह शक्ति वाले अणुओं, परमाणुओं आदि को पाया है, जिससे सारा संसार रचित है या जैसे चुम्बक का चुम्बकीय क्षेत्र होता है जो दिखाई नहीं देता, परन्तु सम्बन्धित (लोहादि) पदार्थ समीप ले जाने पर अपना प्रभाव दिखाता है। प्रायः हम शून्य या जड़ को पर्याय रूप में ही लेते हैं। जैसे– इसका दिमाग तो शून्य ही है, जड़ ही है।

37. वे० सा०, पृ० 3, 4, 13, 66, 83, 83

अद्वैत स्थिति के लिए बाद में गुरु-शास्त्रादि द्वारा अध्यारोपापवाद न्याय से "तत्" "त्वम्" पदार्थ की एकता समझने से "अहं" "ब्रह्मास्मि" का उपदेश अनुभव करके जीव मुक्त हो जाता है। जीवित दशा में तो ऐसे पुरुष को, जिसका सकल अज्ञान नष्ट हो गया होता है, जीवन्मुक्त कहते हैं, और शरीर छोड़ने पर विदेहमुक्त हो जाता है और अखण्ड ब्रह्म से एक हो जाता है।[38]

काश्मीर शैव दर्शन के परम विद्वान् स्वामी लक्ष्मण जी महाराज कहते हैं[39] कि बन्धन सीमित ज्ञान का ही दूसरा नाम है, ज्ञान के अभाव का नहीं। इस सीमित ज्ञान के दो रूप माने जाते हैं- एक का सम्बन्ध तो किसी वस्तु को अपूर्णरूप से समझने से बुद्धि से है, जो किसी वस्तु के प्रति बौद्धिक अनुभव के कारण होता है, अतः इसको "बौद्ध अज्ञान" कहते हैं। दूसरा पुरुष से सम्बन्धित है, जो उसका अपने को अपूर्ण समझना है। इस अज्ञान को "पौरुष अज्ञान" से संज्ञित किया गया है, जो पुरुष को अपने चैतन्य स्वरूप की प्रतीति नहीं होने देता।

ये दोनों प्रकार के अज्ञान परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति के ही विकासमात्र हैं, मानों स्वातन्त्र्य शक्ति रूपी समुद्र की दो प्रकार की ज्वारभाटायें ही हैं। इसीलिए ये ज्वारभाटाओं की तरह स्थिर नहीं हैं अर्थात् इनमें से कभी एक का और कभी दूसरी का उतार-चढ़ाव होता रहता है और परमशिव के अस्तित्व एवं दोनों प्रकार के अज्ञानों के सम्बन्ध में समुद्र और ज्वारभाटाओं के सम्बन्ध की तरह यह चक्र सतत चलता ही रहता है अर्थात् कभी रुकता नहीं। यह बौद्ध अज्ञान तो शैव दर्शन के सिद्धान्तों के सतत अध्ययन, मनन एवं यथार्थ तात्पर्य को समझने से दूर हो जाता है और पौरुष अज्ञान सतत साधना, अनुभूति एवं शक्तिपात से अपने यथार्थ शिवस्वरूप में पूर्ण प्रतीति से दूर हो जाता है। इस तरह स्वातन्त्र्यशक्ति के शुद्ध दृष्टिकोण में दोनों अज्ञान ज्ञान का रूप धारण कर लेते हैं- यही मुक्ति है और बुद्धि तथा आत्मस्वरूप सम्बन्धी अपूर्ण ज्ञान ही बन्धन है।

इस तरह वेदान्तसार और काश्मीर शैव दर्शन के बन्धन और मोक्ष में तथा साध न में तात्त्विक रूप से कोई अन्तर नहीं दिखाई देता है। सदानन्द ने बुद्धिजन्य अज्ञान के निर्वाण के लिए अद्वैत वेदान्त की तरह ही पहले साधन या तप पर बल दिया है और स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान के निरसनार्थ गुरु कृपा एवं शास्त्र को आवश्यक बताया

38. वे० सा०, पृ० 105
39. स्वामी जी के आँगल भाषा में लिखित लेख काश्मीर शैवदर्शन का सांख्य और वेदान्त से मतभेद, का पृ० 2 तथा "इह ज्ञानं मोक्ष कारणं -- मूलकारणं संसारस्य।"
—तं० सा० आह०, पृ० 2-3

है। अन्तर केवल इतना है कि एक ने बुद्धिजन्य अज्ञान निवारणार्थ तप पर बल दिया है और दूसरे ने उसी के लिए शास्त्र का एवं स्वरूप अज्ञान के लिए एक ने गुरु उपदेश-शास्त्र पर बल दिया है, तो दूसरे ने उसी के लिए तप, अनुग्रह आदि पर। परन्तु दोनों ने ही दोनों के निरसन पर बल दिया है, अतः पथ में भेद है, लक्ष्य में नहीं।

इसी प्रकार वेदान्तसार आदि पर आक्षेप किया जाता है कि इसमें केवल पच्चीस तत्त्व माने गये हैं और शैवदर्शन में छत्तीस। अतः वेदान्तसार आदि विश्व की परिपूर्ण व्याख्या करने में सफल नहीं हुए हैं, क्योंकि पृथिवी से पुरुष पर्यन्त तो मायाध्वा या अशुद्धाध्वा के ही अन्तर्गत आते हैं और इसके ऊपर के पाञ्च कञ्चुक, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति तथा शिव जो क्रमशः, उत्तरोत्तर स्फुट एवं शुद्ध दृष्टिकोण वाले होते हैं। इसीलिए इनको शुद्धाध्वा कहा गया है।[40] इसका प्रत्युत्तर यह है कि वेदान्तियों ने छत्तीस तत्त्वों को नकारा नहीं है और पच्चीस से ही जब काम चल सकता है, तो अधिक संख्या बढ़ाने की क्या आवश्यकता है। शैवों अनुसार भी तो केवल छत्तीस ही प्रमेय नहीं है, प्रत्युत् अनन्त-अनन्त उनके अवान्तर आदि रूप हैं और इस तरह विश्व नाना रूपों वाला है। इसी तरह वेदान्तसार में समष्टिअज्ञान दृष्टिकोण वाले ईश्वर के विषय में कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्माण्ड तो अनन्त हैं और उनके एक उच्चतम नियामक के अतिरिक्त और भी तो भिन्न-भिन्न अवान्तर नियामक होंगे ही। वेदान्तसार में महाप्रपञ्च का[41] निरूपण है, जो अनन्त ब्रह्माण्डों का ही प्रतीक है। एक ब्रह्माण्ड की सृष्टि का एक समष्टि अज्ञान वाला ईश्वर ही हो सकता है व्यष्टि जीव नियामक नहीं हो सकता। परन्तु ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं कि सगुण ब्रह्म भी अनेक होंगे, अपितु वह तो एक ही होगा और उसके नीचे ईश्वर आदि नाम से कहे जाने वाले अनन्त हो सकते हैं। यह ईश्वर आदि शुद्धाध्वा के हो गये और शेष अशुद्धाध्वा के (जीवआदि)। जो पाञ्च कञ्चुक और एक माया की समस्या है, उनके काम को एक प्रकृति (अज्ञान) से ही आवरण और विक्षेप शक्ति द्वारा ले लिया गया है अतः वे इनमें ही समन्वित हो सकते हैं।

अतः स्पष्ट हुआ कि वेदान्तसार एवं काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर अन्तर दिखाई देते हुए भी लक्ष्य की एकता है और दोनों अपने-अपने दृष्टिकोणों से पूर्ण एवं अद्वितीय स्थान रखते हैं। एक का दृष्टिकोण अभावात्मक है तो दूसरे का भावात्मक, परन्तु गन्तव्य स्थल एक ही।[42]

---

40. स्वामी लक्ष्मण जी का लेख -- पृ० 4-5 तथा तं० सा० आह० 1, पृ० 3-4
41. वे० सा० पृ० 40
42. वे० सा०, पृ० 29

अष्टम अध्याय

उपसंहार

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् और वेदान्तसार के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव सर्वोच्च सत्ता माने गये हैं। वे प्रकाशरूप एवं विमर्शस्वभाव हैं अर्थात् वे स्वतः सतत प्रकाशील रहते हैं और इस प्रकाशता की अहंरूप प्रतीति भी रखते हैं। समस्त चराचर विश्व उनकी सत्ता से ही प्रकाशित है। यह प्रकाश शिव कहा जाता है और प्रकाशता शक्ति। शिव और शक्ति, अग्नि और उष्णत्व की तरह कभी पृथक् नहीं होते, प्रत्युत् इन दोनों का विशुद्ध सामरस्य ही परमशिव या पराशक्ति नाम से अभिहित किया जाता है। शिवरूप में विश्वोत्तीर्ण कहलाते हैं, क्योंकि उस समय समस्त विश्व-प्रपञ्च इनमें सूक्ष्म (बीज) रूप से प्रकाश-ऐकात्म्यभाव से रहता है- इनसे परे कोई नहीं रहता। शक्तिरूप में विश्वमय कहलाते हैं, क्योंकि समस्त विश्व-प्रपञ्च इस शक्ति का ही स्फार है, उनकी अभिव्यक्ति है। परन्तु किसी भी दशा से परमशिव की यथार्थसत्ता में कोई अन्तर नहीं आता, वे देश, काल एवं रूप से सीमित नहीं होते और विश्वरूप में विविक्त होकर भी अविविक्त ही रहते हैं, इसलिए अनुत्तर भी कहे जाते हैं। शक्ति को पराशक्ति, चिति, एवं परावाक् नाम से भी संज्ञित किया जाता है, जो सर्वोत्कृष्ट सामर्थ्य, समष्टि चैतन्य (आत्मा) और नित्य शब्द की प्रतीक हैं। ये परमशिव से एवं परस्पर भी अभिन्न ही हैं और एक निश्चित् क्रम एवं व्यवस्था से समस्त विश्व-लीला को चलाती हैं। परमशिव की अनेक शक्तियाँ कही जाती हैं, जो विश्व प्रक्रिया में विविधरूप से योगदान देती हैं। उनमें से चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, प्रमुख मानी जाती हैं और उनमें से भी अन्तिम तीन प्रधान मानी जाती हैं। चित् शक्ति से वे स्वतः सदा प्रकाशशील रहते हैं, आनन्दशक्ति परिपूर्णतया एवं स्वस्वरूप विश्रान्ति है, इच्छा शक्ति स्वातन्त्र्यरूप है, ज्ञानशक्ति सर्वज्ञत्व एवं क्रियाशक्ति सर्वकर्तृत्व की द्योतक है। वास्तव में स्वातन्त्र्यशक्ति से ही लीलावश

नट की तरह समस्त प्रमाता-प्रमेय-भुवन-भाव-तत्त्व आदि रूपों में मुक्ति एवं बन्धन का चक्र अपने पञ्चविधकृत्यकारित्व के रूप में सदा चलाते रहते हैं और ऐसा करते हुए भी समुद्र एवं लहरों की सतत क्रीड़ा के समान उनसे अभिन्न प्रकाशरूप एवं आनन्दघनरूप में अबाधित ही रहते हैं। अव्यक्त को व्यक्त करना ही उनकी सृष्टि क्रिया है, उसका उस रूप में अवस्थित रहना, स्थिति क्रिया एवं अपने में अव्यक्त रूप से भासित करना संहार क्रिया, अपने स्वरूप का गोपन करके भेदरूप में अणुभाव अपनाना विलय क्रिया एवं स्वयं या गुरु शास्त्रादि द्वारा भेद का लोप कर अभेदरूप में भासित करना अनुग्रह क्रिया कहलाती है। इस तरह परमशिव अपनी इच्छारूपी स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा से विश्व लीला का विकास करते हैं अर्थात् विश्व-प्रपञ्च उनकी अपनी स्वातन्त्र्य शक्तिरूप दर्पण में अपने चैतन्यरूप बिम्ब का प्रतिबिम्ब ही है। अतः उसकी अपनी आनन्दरूप या स्वातन्त्र्यरूप शक्ति का स्फार होने से सत्य है – सब शिव ही है। अपने विश्वमय रूप में अपनी स्वातन्त्र्य महिमा से संकोच ग्रहण कर शिव से लेकर पृथिवी तक क्रमशः उत्तरोत्तर रूप में अपने प्रकाश को अस्फुट करते हुए छत्तीस प्रकार के तत्त्वों के रूप में एवं शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयकेवली तथा सकल सात प्रकार के प्रमाताओं के रूप में अनन्त वैचित्र्यों एवं विभिन्नताओं से युक्त होकर अभिव्यक्त होते हैं। पृथिवी से लेकर पुरुषतत्त्व तक पाञ्च महाभूत, पाञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पाञ्च तन्मात्रायें, पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, तथा पुरुष-- सांख्य दर्शन की तरह ही माने जाते हैं। केवल पुरुष और प्रकृति का थोड़ा भेद है। सांख्य में प्रकृति एक ही मानी गई है तथा पुरुष को अक्रिय माना गया है, जबकि इसमें प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्-पृथक् नियत है और पुरुष सक्रिय माना गया है तथा प्रकृति की साम्यावस्था में जबकि पुरुष का उससे तादात्म्य होने से सुप्त-सा होता है, क्षोभ पैदा करने वाला तत्त्वेश माना गया है। शिवस्वरूप (चैतन्य) को छिपाने के लिए कला, विद्या, राग, काल, नियति, पाञ्च कञ्चुक तथा भेद दृष्टिकोण पैदा करने वाला मायातत्त्व माना गया है। परमशिव के सर्वकर्तृत्व का किञ्चित्कर्तृत्व रूप ही कला, सर्वज्ञत्व का अल्पज्ञत्वरूप विद्या, पूर्णतृप्तत्व का अपूर्णतृप्तत्वरूप राग, नित्यत्व का भूत-वर्तमान-भविष्यत् अल्पज्ञत्वरूप काल तथा अनन्त एवं व्यापकत्व रूप का नियत देश आदि में भासकत्व नियति तत्त्व कहलाता है। इनसे आवृत हुआ पुरुष अपने को अणु रूप देरवता है तथा विश्व को नानात्व से युक्त अनुभव करता है। अबाधित इच्छा शक्ति का संकुचित रूप, जिससे पुरुष अपने को सीमित सामर्थ्य

वाला – अणुरूप मानता है, आणवमल कहलाता है। ज्ञान शक्ति का संकुचितरूप, अन्त:करण आदि से युक्तता, जिससे पुरुष सीमित ज्ञान का एवं नानात्व का अनुभव करता है, मायीयमल तथा क्रियाशक्ति का संकोच, जिससे कर्मेन्द्रियों से युक्त होकर सीमित कर्म करने एवं तज्जन्य शुभाशुभफल भोगने वाला समझता है, कार्म मल कहलाता है। पुरुष इन तीनों मलों (अज्ञानों) एवं माया सहित छ: कञ्चुकों से उपहित होकर संसृति चक्र में घूमता रहता है। माया से पृथिवी पर्यन्त शुद्ध रूप (शिवस्वरूप) का गोपन होने से अशुद्धाध्वा माना गया है और इसमें विद्यमान प्रमाता–प्रमेय सीमित एवं एकदेशीय अनुभव वाले माने जाते हैं। विद्यातत्त्व से शिवतत्त्व तक शिवस्वरूप का गोपन नहीं होता और उस दृष्टिकोण के प्रमाता प्रमेय असीमित एवं सार्वभौमिक अनुभव वाले होते हैं, अत: शुद्धाध्वा कहलाते हैं। ये सीमित और असीमित मिलाकर ही पूर्ण सृष्टि चक्र कहा जाता है। जब पुरुष छ: कञ्चुकों के प्रभाव से छूट जाता है तो चैतन्य (आत्मा) का अस्फुट रूप में अनुभव करने लगता है– इस दृष्टिकोण को शुद्धविद्यातत्त्व कहा जाता है परन्तु विश्व भी समान ही भासता रहता है। इस दशा से ऊपर दृष्टिकोण को ईश्वरतत्त्व कहा गया है, जिसमें चैतन्य स्फुटरूप से भासता है, परन्तु विश्व भी अवचेतन दशा में अस्फुटरूप से भासता है। विद्यातत्त्व में क्रिया प्रधानता और ईश्वरतत्त्व में ज्ञान प्रधानता मानी जाती है। इससे ऊपर सदाशिवतत्त्व में चैतन्य अनुभव स्फुटतररूप में अनुभव होता है और माया सहित कञ्चुक पूर्णतयाध्वस्त हो जाते हैं अर्थात् विश्व अपने से अभिन्नरूप से भासता है। इसके ऊपर की दशा में क्रमश: शक्ति और शिव दृष्टिकोण में पुरुष चैतन्य को स्फुटतमरूप में अनुभव करता है तथा विश्व की स्मृति तक नहीं रहती अर्थात् उससे पूर्ण तादात्म्य होता है। इनका सामरस्य पूर्ण अद्वैत दशा है।

इस तरह शिव से पृथिवी तक समस्त विश्व–लीला शिव की स्वेच्छा से अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति की लीला ही है– बन्धन और मोक्ष नदी की लहरों के उतार–चढ़ाव की भाँति इसके दो पहलू हैं। जिस प्रकार जल का प्रवाह लहरों के उतार–चढ़ाव पर ही निर्भर है, उसी प्रकार सृष्टि आदि चक्र का क्रम आदि बन्धन और मोक्ष पर ही अवलम्बित है। जैसे नदी सदा चलती रहती है, उसी प्रकार यह सृष्टि क्रम सतत चलता रहता है और नदी एवं उसकी लहरों की भाँति परमशिव से भिन्न भासित–सा होते हुए भी अभिन्न ही है। शिव का अपनी अपरिमित शक्तियों में स्वेच्छा से परिगृहीत संकोच ही बन्धन है, जो बौद्ध अज्ञान एवं पौरुष अज्ञान के नाम से दो रूपों में भासता है। एक बुद्धि की सीमित ज्ञातृता का और दूसरा स्वस्वरूप

के प्रति अनभिज्ञता से अणुता का बोधक है। शास्त्रादि का मनन चिन्तन एवं परिशीलन प्रथम का और तप, साधना, अनुग्रह, गुरु कृपा दूसरे का निरसन करते हैं। अपने यथार्थ शिवस्वरूप की अखण्ड विशुद्ध प्रतीति ही मोक्ष है। अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं, प्रत्युत् उसका संकुचित रूपमात्र है, जो असंकुचित दशा में पुनः पूर्णज्ञान में परिणत हो जाता है। साधक के तारतम्य से अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय का विधान है जिनमें प्रथम उत्कृष्टतम साधक को गुरु आदि के कथनमात्र से स्वस्वरूप का बोध हो जाता है, दूसरे में निर्विकल्प होकर वायुरहित स्थान में दीपक की तरह चित्त को एकाग्र करके स्वस्वरूप का अनुभव किया जाता है, तीसरे में अहंता आदि अशुद्ध संकल्पों को त्यागकर 'मैं शिव ही हूँ' – ऐसे शुद्ध संकल्पों से सर्वात्मभाव का मनन करने से आत्मा का बोध हो जाता है, चतुर्थ में चित्त को शरीर, प्राणादि या जगत् के बाह्य पदार्थ पर स्थिर करके क्रमशः सर्वात्मभाव का अभ्यास करने से आत्मबोध होता है। संकल्प-क्षय, शक्तिसंकोच-विकास वाहच्छेद, आद्यन्तकोटि आदि का अभ्यास भी अवान्तर कई उपाय हैं, जो क्रमशः चित्त का निर्विकल्प स्थिर करना, ज्ञानेन्द्रिय देवियों की बाहर फैली हुई शक्ति का कछुये के अंगों की तरह आकुञ्चन या अर्थसमूहों में फैली हुई शक्ति को एक साथ बटोरकर आत्मा में लगाना, भीतर छिपी हुई शक्तियों का सब इन्द्रियों द्वारा प्रसार, प्राण-अपान वायुओं का हृदय में नियमन द्वारा स्वररहित, ककारादि वर्णों के उच्चारण से विच्छेद करना, हृदय और द्वादशान्त में प्राण के उठने-बैठने का चित्त से अभ्यास करना आदि है। जीव को प्रत्येक प्रकार से स्वस्वरूप में अवस्थिति-प्राप्ति में असमर्थ देखकर स्वयं अनुग्रह करके समर्थ बनाकर शिवत्व लाभ कराना शक्तिपात कहलाता है। इस तरह बन्ध, मोक्ष, पशु, पाश, उपाय, उपेय, प्रमाता, प्रमेय, प्रपञ्च, जो भी कुछ है– सब एक शिव ही है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है और न ही ऐसा हो सकता है, क्योंकि उसके स्फुरण से ही सब स्फूर्तिमान् होते हैं उसके प्रकाश से ही सब प्रकाशमान् होते हैं। इस तरह जो ज्ञानामृत के समुद्र एवं उसके परिसर में फैली फेन के तादात्म्य से परमशिव एवं उसके विकास विश्व का यथार्थ पान करता है, वह शिवत्व को प्राप्त हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन एक ही अद्वितीय, अखण्ड, अनन्त, आनन्दस्वरूप ब्रह्म को सत्य वस्तु मानता है एवं अज्ञान तथा तज्जन्य सकल प्रपञ्च को मिथ्या वस्तु मानता है, क्योंकि हम उसको ब्रह्मज्ञान के पूर्व जिस दृष्टिकोण से देखते हैं, उसकी प्राप्ति पर वह वैसा नहीं रहता। अतः दृश्यमान् जगत् ब्रह्म का विवर्त या

अध्यासमात्र है। जैसे रस्सी में भ्रम से सर्प का भान होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में अज्ञान से जगत् प्रपञ्च का भान होता है। इसी प्रक्रिया को अध्यास या विवर्त कहा गया है तथा जैसे प्रकाश से रस्सी का यथार्थरूप में ज्ञान होने से सर्पत्वरूपी अज्ञान का निरसन होता है, उसी प्रकार ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान होने पर विश्वरूपी अज्ञान का विनाश हो जाता है। यह प्रक्रिया अपवाद नाम से अभिहित है। अज्ञान न तो सत् की भाँति कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर इसका बाध हो जाता है और न ही असत् कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। अतः यह अद्भुत शक्ति वाला अनिर्वचनीय ही है। इसको ज्ञानविरोधी भी कहते हैं, क्योंकि जैसे प्रकाश से तम दूर हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान निवृत्त हो जाता है। सत्त्व रजस् और तमस् तीन गुणों से युक्त होने के कारण इसे प्रकृति का पर्याय या त्रिगुणात्मक कहते हैं। इसको भावरूप भी कहा जाता है, क्योंकि इसकी सत्ता प्रतीत होती है, जैसे 'मैं कुछ नहीं जानता', परन्तु फिर भी इसको– 'ऐसा ही है', 'यही है'– ऐसा नहीं कह सकते। अतः यत्किञ्चित् रूप है। इसकी आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियाँ होती हैं, जिनका कार्य क्रमशः स्वरूप को अपनी शक्ति द्वारा छिपाकर असीमित को सीमित कर देना है। जैसे विशाल सूर्य को छोटा–सा मेघ का टुकड़ा ढककर आँखों से ओझल कर देता है तथा भेद के प्रसार द्वारा नानात्व पैदा करना होता है जैसे रस्सी में सर्पत्व भावना को पैदा करना। आवरण शक्ति से आवृत हुआ ही शुद्ध आत्मा जीव संज्ञा से अपने को कर्ता, भोक्ता, सुखी–दुःखी तुच्छ संसारी समझता है तथा विक्षेप शक्ति से आवृत हुआ ईश्वर सकल प्रपञ्च को ब्रह्म से लेकर पृथिवी तक पैदा करता है। अज्ञान को समष्टि–व्यष्टि भेद से दो प्रकार का कहा गया है। जैसे वृक्षों के समूह को वन तथा अकेले–अकेले को वृक्ष कहते हैं। सत्त्वगुण प्रधान समष्टि अज्ञान से उपहित होने पर शुद्ध चैतन्य ईश्वर कहलाता है, जिस को सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, नियन्ता, सर्ववित् आदि कहते हैं और यह ही जगत् का स्वरूप प्रधानता से निमित्त कारण एवं स्वोपाधि–प्रधानता से उपादान कारण कहलाता है। जैसे मकड़ी तन्तु के प्रति चैतन्यांश के कारण निमित्त एवं स्वशरीर प्रधानता से उपादान कारण बनती है, अर्थात् जगत् की सृष्टि–स्थिति एवं प्रलय आदि इसी सगुण ब्रह्म द्वारा सम्पन्न होते हैं। इस व्यष्टि अज्ञान से उपहित होने पर, जिसमें रजस्–तमस् की प्रधानता होती है, शुद्ध–चैतन्य प्राज्ञ नाम से जाना जाता है, जिसमें अल्पज्ञता आदि गुण होते हैं। ये ईश्वर और प्राज्ञ कारण शरीर, आनन्दमय कोश एवं लय स्थान कहे जाते हैं,

क्योंकि क्रमशः समष्टि–व्यष्टि सूक्ष्म–स्थूल प्रपञ्च का इनसे ही प्राकट्य होता है। आनन्द बाहुल्य से सम्पन्न रहते हैं, जिसको ये अज्ञान की सूक्ष्म वृत्तियों द्वारा अनुभव करते हैं तथा सब प्रपञ्चों का इनमें लय होने से लय स्थान कहा है। सूक्ष्म शरीरों की समष्टियुक्त चैतन्य को सूत्रात्मा, प्राण या हिरण्यगर्भ कहते हैं, एवं व्यष्टि सूक्ष्म शरीर से युक्त चैतन्य तेजस नाम से जाना जाता है। ये क्रमशः समष्टि–व्यष्टि रूप में विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय कोश से युक्त होने से ज्ञान, इच्छा तथा क्रियाशक्ति से संयुक्त हैं। इनको सूक्ष्म–शरीर, स्वप्न दशा तथा लय स्थान कहा जाता है तथा सूक्ष्म मनोवृत्तियों द्वारा वासनामय शब्दादि विषयों का अनुभव करती है। स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य वैश्वानर, विराट्, तथा व्यष्टि स्थूल शरीर से उपहित चैतन्य विश्व नाम से अभिहित किया गया है। ये क्रमशः 'अहंभावयुक्त', अन्नमय कोश, स्थूल शरीर तथा इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करने से जाग्रत् दशा कही जाती है। इस अवस्था में विभिन्न देवताओं द्वारा अधिष्ठित विभिन्न इन्द्रियों से तत्–तद् भोग आदि का अनुभव करते हैं।

तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्ति से युक्त होकर ईश्वर से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि एवं अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति होती है, जिन्हें तन्मात्रा एवं अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्च महाभूत कहते हैं। इनमें उत्तरोत्तर सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों की अधिकता होती है। इन अपञ्चीकृत सूक्ष्म महाभूतों से सूक्ष्म शरीरों एवं पञ्चीकृत होने पर स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। पञ्चीकरण में प्रत्येक महाभूत में अपना अर्धांश तथा शेष चारों का अष्टमांश सम्मिलित होता है। स्थूलभूतों से स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है। अपञ्चीकृत सूक्ष्म आकाशादि के सत्त्व अंशों से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण (ज्ञान) इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, जिनसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का अनुभव होता है। सूक्ष्म आकाशादि से मिश्रित सात्त्विक अंशों से बुद्धि, अहंकार, मन एवं चित्त – अन्तःकरण की उत्पत्ति होती है। बुद्धि सहित ज्ञानेन्द्रियों को विज्ञानमय कोश कहते हैं, जो कर्तृत्वादि का ज्ञाता होने से जीव संज्ञा वाला होता है। मन सहित ज्ञानेन्द्रियाँ मनोमय कोश कहलाती हैं, जिसमें इच्छा प्रधानता होती है, अतःकरण रूप है। आकाशादि के पृथक्–पृथक् रजोगुण के अंशों से क्रमशः पृथक्–पृथक् वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। प्राण, अपान, समान, व्यान, तथा उदान पाँच वायुओं की आकाशादि के मिश्रित रजोगुण अंशों से उत्पत्ति होती है। प्राणादि पञ्च कर्मेन्द्रियों सहित प्राणमयकोश कहलाता है, जो क्रिया प्रधानता से क्रियारूप होता है। तीन कोशों

को मन-बुद्धि सहित सूक्ष्म शरीर कहते हैं। स्थूल शरीर भी- जरायुज, अण्डज, स्वदेज, उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार के होते हैं। पंचीकृत स्थूल भूतों से ही भूः, भुवः स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य ऊपर के लोकों की, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल नामक नीचे के लोकों की तथा सकल ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत उक्त चारों शरीरों, भोगों आदि की सृष्टि होती है। इस कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीरों के प्रपञ्चों की समष्टि को महाप्रपञ्च कहते हैं। जैसे वनों के समूह को महावन कहते हैं। इन समस्त दशाओं में उपाधियुक्त चैतन्यों की एवं समष्टि व्यष्टियुक्त अज्ञान की एवं शुद्ध चैतन्य की तप्तायः पिण्डवत् एकता होती है। जैसे विभिन्न जलाशय वन आदि उपाधियों से युक्त आकाश एवं उपाधि रहित महाकाश की एकता होती है अर्थात् उपाधि की दशा में ही भेद दिखाई देता है यथार्थ में अभेद ही है। प्रलय के समय स्थूल प्रपञ्च सूक्ष्म में, सूक्ष्म कारण में तथा कारण अज्ञानोपहित चैतन्य में और वह भी शुद्ध चैतन्य में व्युत्क्रम से विलीन होकर एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है। इस तरह ब्रह्म ही यथार्थता सब कुछ है, अन्य कुछ नहीं।

इस यथार्थ स्वरूप ब्रह्म का अज्ञान ही बन्धन और इसका ज्ञान ही मोक्ष है। अतः मोक्ष कोई बाहर से प्राप्त करने वाली वस्तु नहीं, प्रत्युत् असत् के निराकरण से सत् रूप स्वस्वरूप की पहचान ही है। जैसे कोई शेर का बच्चा भेड़ों में पलने से अपने को भेड़ ही समझे और जलादि में अन्य शेर से अपनी समानता देखकर पुनः अपने को शेर समझने लग जाये। इसके लिए दो प्रकार के उपाय बतलाये गये हैं- पहले वेद शास्त्रादि के तात्पर्य को विधिपूर्वक समझना, काम्य-निषिद्ध कर्मों से उपराम होना, एवं नित्य, नैमित्तिक, उपवास, तप, आदि द्वारा बुद्धि शुद्ध एवं चित्त एकाग्र करके निर्मल अन्तःकरण कर लेना आवश्यक है। ऐसे अधिकारी को सत्य-असत्य विवेक, वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्ति सम्पन्न एवं मुमुक्षु भी होना चाहिए। तदुपरान्त ब्रह्मनिष्ठ गुरु ब्रह्म की सत्यता, उससे अपनी एकता से 'अहं ब्रह्मास्मि' का शुद्ध ज्ञान करा देता है, जिससे साधक स्वतः अनुभूति करने से एवं सकल अज्ञान तथा तज्जन्य प्रपञ्च के निरसन से ब्रह्मसत्ता का अखण्ड आनन्द लाभ करके जीवित रहते हुए जीवन्मुक्ति एवं शरीर छोड़ने पर अखण्ड मुक्ति का लाभ करता है अर्थात् ब्रह्म से एकत्व स्थापित कर लेता है। इस तरह आदि, मध्य, अन्त सब ब्रह्ममय होने से सब ब्रह्म ही है।

इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (क्षेमराज) एवं वेदान्तसार (सदानन्द) में निरूपित काश्मीर शैव दर्शन और अद्वैत वेदान्त दर्शन–दोनों ही अद्वैत सम्बन्धी निष्ठा पर अपने–अपने दृष्टिकोण के आधार पर सर्वोत्कृष्ट स्थान रखते हैं। दोनों का पारमार्थिक लक्ष्य स्वस्वरूप ज्ञान, अज्ञान निवृत्ति एवं विश्व–कल्याण है, जो सर्वत्र 'शिवत्त्व' या 'ब्रह्मत्व' भावना से स्पष्ट परिलक्षित होता है। आवश्यकता है इस सर्वात्मभाव के मनन, चिन्तन एवं परिशीलन की, जो सब भेदों का विलय, परमानन्दघन, सर्वोत्कृष्ट मुक्ति, साक्षात् पराशक्तिस्वरूप एवं परम परोपकार है। परमसत्ता जन–जन एवं कण–कण में इस भाव पर साक्षात् आरूढ़ होने की अनुकम्पा सदा सब पर समान रूप से करती रहे– ....ॐ........ॐ........ॐ।

ग्रन्थ-सूची

1. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-भाग 1, उत्पलदेवाचार्य, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
2. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-भाग 2, उत्पलदेवाचार्य, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
3. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शनी – अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
4. तन्त्रालोक भाग-1, अभिनवगुप्त– अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
5. तन्त्रालोक भाग-2, अभिनवगुप्त– अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
6. तन्त्रालोक भाग-3, अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
7. तन्त्रालोक भाग-5, अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
8. तन्त्रालोक भाग-6, अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
9. तन्त्रालोक भाग-7, अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
10. तन्त्रालोक भाग-8, अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
11. तन्त्रालोक भाग-9, अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
12. तन्त्रसार – अभिनवगुप्त, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
13. नेत्रतन्त्रम् – क्षेमराज – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
14. तत्त्वसन्दोह – क्षेमराज – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
15. परात्रिंशिका – क्षेमराज – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
16. परमार्थसार – अभिनवगुप्त – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
17. पराप्रावेशिका – क्षेमराज – विवृतियोगराज, अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
18. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् – क्षेमराज – अनुवादक - कुर्ट एफ॰ लेडॅक्कर, अडयार पुस्तकालय
19. महार्थमञ्जरी – महेश्वरानन्द – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।

20. मालिनीविजयवार्तिकम् – अभिनवगुप्त – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर (श्रीनगर)
21. मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम् – अभिनवगुप्त – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
22. विज्ञानभैरव – विवृतिक्षेमराज तथा शिवोपाध्याय – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
23. बोधपञ्चदशिका – अभिनुगुप्त – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
24. स्पन्दकारिका – रामकण्ठ – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
25. स्पन्दसन्दोहः – क्षेमराज – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
26. स्वच्छन्दतन्त्रम् पूर्वार्धम् – क्षेमराज विवृति – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
27. स्वच्छन्दतन्त्रम् – उत्तरार्धम् – क्षेमराज विवृति – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
28. सिद्धमहारहस्यम् – श्री अमृतवाग्भव – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
29. सिद्धित्रयी – उत्पलदेव – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
30. स्पन्दनिर्णय – राजानक क्षेमराज – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
31. शिवदृष्टि– सोमानन्द, विवृति उत्पल – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
32. शिवसूत्र वार्तिकम् – वरदराज – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
33. शिवसूत्रविमर्शिनी – क्षेमराज – अनुसन्धान विभाग जम्मू कश्मीर, श्रीनगर।
34. शिवस्तोत्रावली – उत्पलदेव – चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-1
35. षट्त्रिंशितत्त्वसंदोह – महेश्वरानन्द राजानक विवरण, अनुसन्धान विभाग जम्मू काश्मीर (श्रीनगर)
36. अमनस्कयोग – श्रीगोरक्षनाथ – सिद्धसाहित्य संशोधन प्रकाशन मंडलपूना, महाराष्ट्र
37. ईशावास्योपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
38. केनोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
39. कठोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
40. प्रश्नोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
41. मुण्डकोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर

42. माण्डूक्योपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
43. ऐतरेयोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
44. छान्दोग्योपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
45. बृहदारण्यकोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
46. कैवल्योपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
47. तैत्तिरीयोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
48. कौषीतकि उपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
49. श्वेताश्वरोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर
50. कठोपनिषद् – शांकर भाष्य, श्री भारतधर्ममहामण्डल, जगत् गंज, बनारस
51. तैत्तिरीयोपनिषत् – शांकर भाष्य, विनायकगणेश आपटे – आनन्दाश्रम मुद्रणालय
52. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य – मोतीलाल बनारसी दास पटना (बिहार)
53. श्रीमद्भागवद्गीता – शांकर भाष्य, मोतीलाल जालान, गीताप्रेस गोरखपुर
54. सौन्दर्यलहरी – श्री शंकराचार्य, प्राच्यविद्यासंशोधनालय, मैसूर विश्वविद्यालय
55. विवेक चूड़ामणि – श्री शंकराचार्य, धर्मार्थ ट्रस्ट जम्मू कामशीर, जम्मू
56. ऋग्वेद संहिता – श्रीमतीपरोपकारिणी सभा
57. नैष्कर्म्यसिद्धि – श्रीसुरेश्वाचार्य – अध्यात्मप्रकाश कार्यालय, होलेनरसीपुर
58. उपदेशसाहस्त्री – शंकराचार्य – पाण्डुरंग जावजी, बम्बई।
59. श्रीमद्भगवद्गीता – हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर
60. पञ्चदशी, पीताम्बरी भाष्य – संस्कृति संस्थान ख्वाजाकुतुब, वेदनगर बरेली (उ. प्र.)
61. वेदान्तसार – सदानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (अनुवादक- रामशरणत्रिपाठी शास्त्री)
62. अनुभूति प्रकाश – विद्यारण्यस्वामी – मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली।
63. लेख – पाण्डेय पं. श्री रामनारायण दत्त शास्त्री (राम) "वेदों और उपनिषदों में मांस भक्षण अश्लीलता नहीं है।" कल्याण जनवर-49, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ० 124
64. सांख्यसूत्रम् – पं. रामशंकर भट्टाचार्य – विद्या प्रकाशन, दिल्ली
65. योगसूत्रम् – पतञ्जली – चौखम्बा संस्कृत, सीरीज़, बनारस सिटी
66. सांख्यदर्शनम् – महर्षि कपिल – खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई

67. पातञ्जल योगदर्शनम् – सम्पादक रामकृष्णभट्टाचार्य, भाषीय विद्या प्रकाशन वाराणसी

68. श्री दुर्गा सप्तशती – गीताप्रेस गोरखपुर

69. कुमारसम्भवम् – कालिदास, नीलम पब्लिकशरज़ जालन्धर शहर

70. उत्तररामचरितम् – भवभूति, रतिरामशास्त्री मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

71. रघुवंशम् – कालिदास, निर्णय सागर मुद्राणालय, बम्बई

72. श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग – द्वितीय खण्ड – स्वामी सारदानन्द, अनुवादक श्रीनृसिंह वल्लभ, श्रीरामकृष्ण आश्रम धन्तोली, नागपुर – 12

73. अष्टावक्रसंहिता – अष्टावक्र – श्रीजीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता

74. योगवासिष्ठ – वसिष्ठ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

75. श्रीकाश्मीर शैवदर्शन – बलजिन्नाथ पण्डित शास्त्री, श्रीरणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू

76. काश्मीर शैविज़्म – एल. एम. शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी

77. काश्मीर शैविज़्म – प्रकाशक, डा. एस. वी. सिंह, इन्डियोलोजिक बुक कारपोरेशन पाटलीपुत्र पथ – पटना

78. स्कूलज़ ऑफ शैविज़्म – यदुनाथ सिन्हा, सिन्हा पब्लिशिंग हाऊस, प्राइवेट लिमिटिड कलकत्ता

79. काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी – डा. भँवरलाल जोशी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी

80. लेख – स्वामी लक्ष्मण जी, "ऑन डिसेग्रीमेन्ट ऑफ काश्मीर शैविज़्म विद सांख्य एण्ड वेदान्त"

81. भारतीय दर्शन – डा. उमेश मिश्र, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ.प्र. लखनऊ

82. इन्डियन फिलासफ़ी – डा. वात्सयायन, प्र. केदारनाथ, रामनाथ मेरठ

83. भारतीय दर्शन – डा. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्, अनुवादक नन्द किशोर राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली - 6

84. स्पेशल लेक्चरज़ ऑन शैव सिद्धान्त – शिव भक्तामणि, तिरुवाचकामणि, के. एम. बालसुब्रह्मण्यम् – दी अनामलाई युनिवर्सिटी, मद्रास।

85. अमरकोष – अमरसिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।



-डॉ॰ जगीर सिंह

एम॰ए॰ एम॰फिल॰, पी॰एच-डी॰

प्राध्यापक संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्म

सभी जीव सुख चाहते हैं । परन्तु त्रिविध दुःखो की निवृत्तिपूर्वक ही ऐसा सम्भव है । दुःख का कारण अज्ञान हैं । यह आत्म–परमेश्वर के परमार्थ स्वरूप की विस्मृति से होता है । इसकी पहचान के लिये आगम–निगम परम्परा के समुद्र में अमूल्य शास्त्र–रत्न भरे पड़े है । भारतीय दर्शन रत्नों में अग्रगण्य काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन और अद्वैत वेदान्त के प्रतिनिधि एवं सारस्वरूप 'प्रत्यभिज्ञा हृदयम्' और 'वेदान्तसार' सरल, सुबोध और तर्कसंगत रूप से परमार्थ लाभ करवाने से सर्वथा उपादेय हैं ।